समीक्षा-शास्त्र

[भारतीय तथा पाश्चात्य]

लेखक

डा० दशरथ ओझा

एम० ए०, पी-एच० डी०

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

विषय-सूची

प्राक्कथन पृ० १–६

पहला अध्याय

साहित्य और समाज पृ० ७–१७

मार्क्सवाद और भारतीय साहित्य—साहित्य तथा विज्ञान-दर्शन का अन्तर—भारतीय और यूरोपीय साहित्य का इतिहास—समाज का प्रभाव साहित्य पर—साहित्य और वाद—नाटक और सामाजिक जीवन—समाज और यथार्थवाद।

दूसरा अध्याय

काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पृ० १८–३८

व्यक्तित्व और समाज—कवि-कृति में कवि-व्यक्तित्व—स्थायी और अस्थायी साहित्य—पात्र में व्यक्तित्व—अतिमानव में मानव-व्यक्तित्व—पात्र में कवि का जीवन और व्यक्तित्व—व्यक्तित्व में असम्बद्धता—गीतिकाव्य में कवि का व्यक्तित्व—व्यक्तित्व की महत्ता—व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—व्यक्तित्व और चरित्र—चरित्र-निर्माण के उपकरण—चरित्र और व्यक्तित्व का अन्तर—व्यक्तित्व और फ्रायड—व्यक्तित्व के नियम में एमर्सन और गेटे का मत—व्यक्तित्व की व्यापकता—व्यक्तित्व और आचार्य कुन्तक—व्यक्तित्व-दर्शन—कलाकार की विभिन्न श्रेणियाँ—तुलसी का व्यक्तित्व।

तीसरा अध्याय

काव्य के रूप पृ० ३९–६०

काव्य—स्वरूप—काव्य का प्रयोजन—काव्य के भेद—उत्तम काव्य—मध्यम काव्य—अधम या चित्रकाव्य—बंध के विचार से भेद—रस—आचार्य भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त—रस की निष्पत्ति—रस के अवयव—काव्य की आत्मा—रसों की संख्या—रसराज, रस-विरोध—भाव—करुणादि रसों में आनन्द कैसे?—गुण—रीति—वृत्ति—दोष।

चौथा अध्याय

काव्य में जीवन की व्याख्या पृ० ६१—७५

काव्य और दर्शन—काव्य तथा अन्य कलाएँ—जीवन-व्याख्या की पद्धति—मानव-जीवन में नियति का स्थान—काव्य में प्रेम की व्याख्या—सौन्दर्य-वर्णन—काव्य में प्रकृति की व्याख्या—काव्य में सामाजिक जीवन की व्याख्या।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी कविता का वर्गीकरण पृ० ७६—८३

स्वरूप-भेद के अनुसार वर्गीकरण—गीतिका (सौनेट)—परिवृत्ति काव्य (पैरोडी)—संबोध गीति (ऑड्स)—मुक्तक काव्य—प्रगीत काव्य—गीतिकाव्य का लक्षण—गीतिकाव्य का संक्षिप्त इतिहास।

छठा अध्याय

काव्य का कलात्मक विश्लेषण पृ० ८४—१०९

गीति काव्य का इतिहास—कबीरदास—सूरदास—सूर और तुलसी—तुलसी दास—मीरा—हरिश्चन्द्र-युग—द्विवेदी-युग—छायावादी गीति काव्य की प्रेरणा भूमि—छायावाद की प्रयोगावस्था—छायावाद का स्पष्ट रूप—छायावाद-काव्यान्दोलन—नवीन प्रगीत मुक्तक—छायावाद का नामकरण—छायावाद और स्वच्छन्दतावाद—स्वच्छन्दतावाद की विशेषता : वस्तुगत साम्य—प्रवृत्तिगत साम्य—शैलीगत साम्य—स्वच्छन्दतावाद और छायावाद में अन्तर—छायावादी और रहस्यवादी गीतों में साम्य—छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर—छायावादी गीतों का वर्गीकरण—प्रगतिवाद—छायावाद और प्रगतिवाद का अन्तर—प्रेम-गीत—छायावादी और प्रगतिवादी गीतों में अन्तर—बंगाल का अकाल—प्रगतिवादी का काव्यालंवन—जीवन-दर्शन—प्रगतिवादी साहित्यकार के दो वर्ग—प्रगतिवाद का मनोवैज्ञानिक निदर्शन—प्रगतिवाद का भविष्य—प्रयोगवाद—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—प्रयोगवाद के स्पष्ट स्वर—छायावाद और प्रयोगवाद में अन्तर—प्रयोगवाद की भाषा-शैली—छन्द-विधान।

सातवाँ अध्याय

नाटक पृ० ११०—१२९

तत्व—नाटक में वर्जित दृश्य—नेता—नायिका—अन्य-पात्र—वृत्ति—कथोपकथन—संकलनत्रय—रस—नाटकों के भेद—नाटकों की उत्पत्ति—प्रेक्षा-गृह—चलचित्र।

आठवाँ अध्याय

रंगमंचीय नाटक पृ० १३०–१४६

भरतमुनि और अरिस्टाटल—दुःखान्त नाटक—सुखान्त नाटक—नाटक के तत्व—भारतीय रंगमंच का विकास—पूर्वकालीन रंगमंच—मध्यकालीन रंगमंच—आधुनिक रंगमंच—रेडियो-नाटक—रंगमंच के नाटक और रेडियो-नाटक—अन्तर—रेडियो-नाटक का भविष्य।

नवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यास और उसके तत्व पृ० १४७–१६४

उपन्यास का महत्व—उपन्यास की भारतीय परम्परा—पाश्चात्य परम्परा—उपन्यास की व्युत्पत्ति—उपन्यास की विविध परिभाषाएँ—समन्वित परिभाषा—उपन्यास के तत्व—कथावस्तु—चरित्र-चित्रण—चरित्र के प्रकार—कथोपकथन—वातावरण—उद्देश्य—भाव और रस—शैली।

दसवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यास का वर्गीकरण और मूल्यांकन पृ० १६५–१७३

बहिर्मुखी उपन्यास—अन्तर्मुखी उपन्यास।

ग्यारहवाँ अध्याय

हिन्दी निबन्ध के तत्व और उसका वर्गीकरण पृ० १७४–१८६

सामान्य परिचय—निबन्ध के तत्व—निबन्धों का वर्गीकरण।

बारहवाँ अध्याय

हिन्दी कहानी के तत्व और कहानीकार पृ० १८७–१९६

कहानी के तत्व।

तेरहवाँ अध्याय

आत्मचरित के तत्व पृ० १९७–२०३

उपन्यास और जीवन-चरित्र में अंतर—जीवनी और इतिहास—जीवनी का साहित्यिक मूल्य—जीवनी की शैली—जीवनियों के प्रकार—आत्मकथाएँ—जीवनी-साहित्य का इतिहास—आत्मसंस्मरण।

चौदहवाँ अध्याय

आलोचना का महत्व पृ० २०४—२१६

परिभाषा—समालोचक के गुण—समीक्षा की प्रणालियाँ—प्रगतिवादी समीक्षा।

प्राक्कथन

आज का वैज्ञानिक युग प्रत्येक कार्य को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। साहित्य के विद्यार्थियों से प्रायः इसके अनुशीलन की सार्थकता के सम्बन्ध में पूछा जाता है, किन्तु यह प्रश्न कोई नया नहीं, शताब्दियों से उपयोगितावादी यह प्रश्न पूछते चले आ रहे हैं। इस असार दुःखमय संसार-वृक्ष में सार और सुखद फल की खोज करते-करते विद्वानों ने कहा है कि इस विषवृक्ष में केवल दो मधुर फल हैं[1]:(१) काव्यामृत का रसास्वादन और (२) सज्जनों का सहवास। तात्पर्य यह है कि काव्यामृत का आस्वादन करने वाले सहृदय ही इस रस का रहस्य जानते हैं, और इससे वंचित रहने वाले इसको अनुपयोगी मानते हैं। इसी कारण साहित्य-विद्या सहृदयों की विद्या मानी गई है और अरसिकों के सम्मुख काव्य का निवेदन निषिद्ध समझा जाता है। जैसा कि प्रसिद्ध है—**'अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।'** आचार्यों ने सहृदय अथवा रसिक की परिभाषा करते हुए लिखा कि "काव्यानुशीलन के निरन्तर अभ्यास से मन-मुकुर के निर्मल हो जाने पर जो वर्णनीय विषय में तन्मय होने के योग्य हैं वे ही हृदय—संवादशाली सहृदय हैं।"[२]

ध्वन्यालोककार सहृदय को ही भावुक, विदग्ध, सचेतस अथवा साहित्यिक कहते हैं। यद्यपि साहित्यिक शब्द आजकल प्रायः अंग्रेजी (Literateur) के लिए प्रयुक्त होने से नया प्रतीत होता है, किन्तु इसका उल्लेख अति प्राचीन-काल से विविध ग्रन्थों में पाया जाता है।

साहित्य शब्द की प्राचीनता

साहित्य शब्द की उत्पत्ति का मूल सर्वप्रथम व्याकरणशास्त्र में मिलता है। राजशेखर के समय तक तो इस शब्द का काव्य के रूप में अर्थ अवश्य ही बन गया था, इससे पूर्व भी रहा हो तो आश्चर्य नहीं। किन्तु निश्चय रूप से

---

१. **संसार-विषवृक्षस्य द्वे एव मधुरे फले।**
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सज्जनैः सह॥

२. **येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे।**
वर्णनीयतन्मयीभवयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः॥

(ध्वन्यालोक)

काव्य-मीमांसा में इस शब्द का प्रयोग साहित्यविद्या अथवा काव्यशास्त्र के अर्थ में होने लगा था। इस शब्द के नाम पर सर्वप्रथम साहित्यशास्त्र का उल्लेख साहित्य-मीमांसा के रूप में पाया जाता है। इस ग्रंथ को सम्भवतः रुय्यक या मंखक नामक आचार्य ने विरचित किया था। साहित्य शब्द के आधार पर साहित्यशास्त्र और भी लिखे गए होंगे, किन्तु आज दिन आचार्य विश्वनाथकृत साहित्य-दर्पण प्रसिद्ध काव्यशास्त्र माना जाता है।

साहित्य शब्द की उत्पत्ति सहित शब्द से जान पड़ती है। सहित का अर्थ है दो का योग; अथवा धीयते अर्थात् जो धारण किया जाए वह है हित। हित के साथ जो रहे वह है सहित और उसका भाव है साहित्य। अथवा सहयोग में अन्वित का भाव साहित्य। **'सहितयोर्भावः साहित्यम्'** के आधार पर कहा गया है कि शब्द और अर्थ दोनों के मेल को साहित्य कहते हैं। ठीक इसी प्रकार से मिलती-जुलती काव्य की परिभाषा आचार्य भामह ने भी लिखी है। काव्यादर्श में भामह लिखते हैं : **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'**। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर साहित्य बनता है तो इन दोनों में प्रधानता किसको दी जाए—शब्द को या अर्थ को ? कवि-पुंगव माघ ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है : **'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।'**—विद्वान् सत्कवि के समान शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा रखते हैं।

इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत दिये हैं। किसी ने शब्द पर बल दिया है किसी ने अर्थ पर, किन्तु कुन्तक नामक आचार्य का मत इन दोनों से भिन्न है। वे कहते हैं कि यद्यपि कतिपय विद्वान् कवि-कौशल-कल्पित कमनीयातिशय शब्द को काव्य मानते हैं और दूसरे सज्जन 'रचनावैचित्र्य चमत्कारि' को काव्य समझते हैं, किन्तु मेरे मत से दोनों पक्ष निर्बल हैं। वास्तव में जिस प्रकार प्रत्येक तिल से तेल निकलने पर तेल की धारा निकलती है उसी प्रकार दोनों—शब्द और अर्थ—के चमत्कार से काव्य बनता है। आचार्य जगन्नाथ ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्द'[1] काव्य कहलाता है। आचार्य शब्द को ही काव्य के लिए मुख्य मानते हुए युक्ति देते हैं कि लोगों से सुना जाता है—हमने काव्य पढ़ा किन्तु उसका अर्थ नहीं समझा।

---

१. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

इसके विपरीत दुर्गाचार्य का मत है कि "अर्थ ही प्रधान है, शब्द तो उसके गुण के अनुसार निर्मित होता है।"[1] अनेक प्रकार से ऊहापोह करते-करते विद्वान् इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि साहित्य या काव्य के शब्द और अर्थ में एक विशेषता होती है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। इसी विशेषता की समस्या को सुलझाना काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र का प्रधान लक्ष्य होता है। साहित्यशास्त्रियों ने इस विशेषता का परीक्षण पाँच प्रकार से किया है :

"विशेष शब्दार्थ काव्य है। शब्द-अर्थ का वैशिष्ट्य धर्ममुख, व्यापारमुख, व्यंग्यमुख, अलंकारगुण, भणिति-वैचित्र्य के दृष्टिकोण से परखा जाता है। उद्भट ने धर्ममुख को, वामन ने व्यापारमुख को, कुन्तक (वक्रोक्तिकार) ने व्यंग्यमुख को, भट्टनायक ने अलंकारगुण को और आनन्दवर्धन ने भणिति-वैचित्र्य को मुख्य माना है।"[2]

इन सब उद्धरणों के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि साहित्य में चारुता का होना आवश्यक है। कुन्तक ने तो स्पष्ट कह दिया कि "यद्यपि वाच्य-वाचक-सम्बन्ध साहित्य के लिए अनिवार्य होता है किन्तु इनमें विशेषता का होना ही साहित्य को अभिप्रेत है।"[3]

शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध दिखाते हुए वैयाकरणों ने विविध प्रकार से छानबीन की। उन्होंने शब्द का विश्लेषण और वर्गीकरण करते हुए संज्ञा, क्रिया आदि भेद-उपभेद किए। यह कार्य बहुत पहले प्रारम्भ हो गया था। किन्तु अर्थ के भेद-प्रभेद का शोध सर्वप्रथम उद्भट ने किया। उन्होंने सर्वप्रथम यह घोषित किया कि शब्द का अभिधार्थ के अतिरिक्त एक और अर्थ होता है।

---

१. अर्थो हि प्रधानम्, तद्गुणः शब्दः।

(निरुक्त)

२. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेषु आद्यः उद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमः आनन्दवर्धनेन।

(समुद्रबन्ध)

३. ननु च वाच्य-वाचक-सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् एतयोः न कथंचिदपि साहित्य-विरहः, सत्यमेतत्। किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्॥

(कुन्तक)

इसी को उद्भट गौण अर्थ और वामन लाक्षणिक अर्थ के नाम से पुकारते हैं। आचार्यों ने कुछ दिन के बाद तीसरा भेद किया जिसे वे ध्वन्यमान अर्थ कहने लगे। इस प्रकार शब्द और अर्थ के मिलन में क्रमिक विकास के द्वारा साहित्य काव्य का रूप धारण करता गया। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य प्रारम्भ में व्याकरण और तर्क के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सूचित करता था, किन्तु कालान्तर में काव्य के उन सभी गुणों का परिचायक बन गया जो उसे (काव्य को) काव्येतर साहित्य से पृथक् करते हैं। इस प्रकार साहित्य काव्य का पर्याय बन गया। और जिस प्रकार व्याकरण, तर्क, मीमांसा आदि शास्त्र मान्य बन गये उसी प्रकार कालान्तर में काव्यशास्त्र भी शास्त्र या विद्या नाम से पुकारा जाने लगा। राजशेखर कहते हैं, **'पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।'** पंचमी साहित्यविद्या में अन्य चार विद्याओं का सार है। इस विद्या की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि साहित्य-विद्या का अर्थ है : शब्द और अर्थ को सहभाव से यथावत् रखने वाली विद्या।[1]

साहित्यविद्या और काव्य-पुरुष की कल्पना स्त्री-पुरुष के रूप में करते हुए राजशेखर ने इनका विवाह भी करा दिया है।

तदेतस्य (काव्यपुरुषस्य) वशीकरणं कामपि स्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्या वधूमुदपादयत्।

—काव्य-पुरुष को वश में करने के लिए किसी स्त्री की रचना करनी चाहिए। यह विचार कर साहित्यविद्या रूपी वधू को उत्पन्न किया।'''कालिदास ने भी वाक् और अर्थ का सम्बन्ध प्रकट करते हुए कहा कि वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए (वचन और अर्थ का तात्पर्य समझने के लिए) काव्य और अर्थ इस प्रकार संपृक्त और पूज्य हैं, जैसे पार्वती और परमेश्वर जगत् के पितर के रूप में पूज्य हैं।[2]

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अर्ध-नारीश्वर महादेव का सम्बन्ध नित्य है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। इसी प्रकार का मत यूरोप के आचार्य कार्लाइल का भी है। वे कहते हैं कि देह और आत्मा, शब्द

---

१. शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।

(काव्य-मीमांसा)

२. वागर्थाविव संपृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

और अर्थ यहाँ-वहाँ (सर्वत्र) आश्चर्य रूप से साथ-साथ चलते हैं।[1]

आचार्य कुन्तक ने साहित्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ का जो शोभाशाली सम्मिलन होता है, वही साहित्य है। यह अभिनव सम्बन्ध तभी मनोरम बनता है जब कवि अपनी प्रतिभा से उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्द—न अधिक, न न्यून—रखकर अपनी रचना को शोभाशाली बना पाता है।[2]

साहित्य का यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि जो कुछ लेखबद्ध हो जाए वह सभी साहित्य के अन्तर्गत है। जिस रचना में साहित्य का उद्‌घाटन हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुन्दर हो, जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो, जिसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुपत्तियाँ व्यक्त की गई हों, वही साहित्य है। (प्रेमचन्द)

साहित्य और कला

कला की परिभाषा देते हुए एक आचार्य कहते हैं कि स्व को कलन करना ही कला है। कला क्या करती है?—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एक आचार्य कहते हैं कि रचना का जो कलन प्रमाता में—प्रामाणिक व्यक्ति में—अपने रूप को कलित (विकसित) करे अथवा वस्तुओं को आवेशित करे, उसे कला कहते हैं।[3]

यह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है कि कला से हमें सुख मिलता है। सुख मिलता क्यों है? कारण यह है कि कला-कृति में कलाकार की अनुभूति का—अपने अन्तःकरण का—सुख समाया हुआ है। भवभूति कहते हैं कि मैं उस वाणी की वन्दना करता हूँ जिसमें आत्मा की कला अमृत रूप से विद्यमान है।[4]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रायः कहा करते थे कि कला में कलाकार अपने को अभिव्यक्त करता है।[5]

---

1. For body and soul, word and idea go strongly together here and everywhere. —The Hero as Poet.

२. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वं मनोहारिण्यवस्थितिः॥ (वक्रोक्तिजीवित)

३. कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तूनि वा तत्र तत्र प्रमातरि कलनमेव कला। (शिवसूत्रविमर्शिनी)

४. वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्। (उत्तररामचरित)

5. In art man reveals himself. —What is Art.

अब देखना यह है कि क्या काव्य को भी कला संज्ञा दी जा सकती है। 'ललित विस्तार' नामक ग्रन्थ में ८६ कलाओं की बृहद् सूची मिलती है जिसमें काव्यव्याकरण (काव्य की व्याख्या करना) और क्रियाकल्प (काव्य और अलंकार) अथवा काव्यकरण-विधि का नामोल्लेख मिलता है।

'प्रबन्धकोष' ने ७२ कलाओं का उल्लेख किया है जिसमें काव्य और अलंकार भी परिगणित हैं। कतिपय ऐसे भी आचार्य हैं जिन्होंने कलाओं से पृथक् काव्य या साहित्य को स्थान दिया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'कला-विलास' में कहीं काव्य, अलंकार या साहित्य का नाम नहीं लिखा है।

उक्त मतों की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य भी विलक्षणता, चमत्कार एवं कल्पना-विलास के कारण कलाओं में परिगणित हुआ, अन्यथा काव्य और कला को हमारे देश में पृथक्-पृथक् ही समझा जाता था। तथ्य तो यह है कि काव्य कला-पक्ष से समन्वित रहते हुए भी कला के स्तर से ऊपर है। कला उपविद्या है किन्तु काव्य विद्या है, उससे भी महान् है। आचार्य भामह कहते हैं कि ऐसा कोई शब्द, वाच्य, विद्या और कला नहीं जो काव्य का अंग होकर न आए। अहो! कवि का उत्तरदायित्व कितना महान् है![१] अर्थात् काव्य अंगी है, कला उसका एक अंग है। भला अंग अंगी कैसे हो सकता है?

पश्चिम में काव्य को कला के अन्तर्गत माना गया है।

१. न तच्छब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारः महान् कवेः॥
(काव्यालंकार)

पहला अध्याय

साहित्य और समाज

स्काट जेम्स ने पाश्चात्य आलोचना-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि एक युग था जब आलोचना के क्षेत्र में अरिस्टाटल के सिद्धांत उद्धृत किये जाते थे, किन्तु अब मैथ्यू ऑरनोल्ड की विश्लेषण-पद्धति मान्य बन गई है। उक्त दोनों आलोचकों के दृष्टिकोण में अन्तर है। अरस्तू आलोचक का सम्बन्ध कला से जोड़ता है और ऑरनोल्ड आलोचक का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से जोड़ता है।

ऑरनोल्ड ने साहित्य, साहित्यिक और आलोचक का सम्बन्ध समाज से इस रूप में जोड़ दिया, जिसकी समझ इससे पूर्व दिखाई नहीं पड़ती। आज का साहित्यिक और आलोचक काव्य के माध्यम से समाज की मनोवृत्तियों एवं उसके आचार-विचारों की आलोचना करना चाहता है।

अरिस्टाटल की पद्धति का अनुयायी आलोचक, कवि एवं कलाकार से सहानुभूति रखता था, किन्तु ऑरनोल्ड का मतानुयायी मुख्यतया समाज के प्रति अपना कुछ कर्तव्य समझकर आलोचना करता है। वह ऐसी उर्वरा भूमि प्रस्तुत करना चाहता है, जिसमें समाज में वीज रूप से उपलब्ध साहित्यिक मौलिकता फलफूल सके। वह समाज में एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहता है, जिसमें कला और कलाकार मानव-जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर कर सकें।

बीसवीं शताब्दी में आलोचना की इस अभिनव पद्धति का निखरा रूप दिखाई पड़ा और इसका प्रभाव भारत के आलोचकों और कवियों एवं कलाकारों पर अनिवार्य रूप से पड़ा। हमारे देश में सामाजिक सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन के अनुकूल होने के कारण इसका प्रभाव अत्यन्त व्यापक हुआ। समाज और साहित्य के इस नये सम्बन्ध को हम यहाँ विस्तार से देखेंगे।

हमारे राष्ट्र में एक नयी चेतना आ गई है। आर्थिक वैषम्य समाज की आँखों में बुरी तरह खटकने लगा है। हमारे राष्ट्र का आदर्श भी समाजवाद पर

निर्भर माना जा चुका है। अब यह प्रश्न और भी महत्त्व का बन गया है कि साहित्य और समाज में क्या सम्बन्ध है। इस प्रश्न के साथ अनायास ही सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्क्स का नाम जोड़ा जाता है। मार्क्स ने अर्थ-योजना के आधार पर जीवन के प्राय: सभी क्षेत्रों में जो क्रान्ति उत्पन्न की उसका प्रभाव विश्व पर पड़ना स्वाभाविक था। मार्क्स की अर्थ-योजना को केन्द्र बनाकर साहित्यिक क्षेत्र में उथल-पुथल मची। रूसी विद्वानों ने समाजवादी नीति को केन्द्र मानकर प्रचुर साहित्य प्रस्तुत किया।

मार्क्सवाद और भारतीय साहित्य

मार्क्सवाद के आधार पर निर्मित साहित्य को आदर्श मानकर यदि हमारा साहित्य विरचित हो तो उसकी क्या गतिविधि होगी? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। कुछ समीक्षकों का मत है कि ऐसा साहित्य भले ही भारत के आर्थिक वैषम्य को कुछ सीमा तक मिटाने वाला हो किन्तु वह स्थायी नहीं बन सकता। वह प्रचारक साहित्य माना जाएगा। कारण यह है कि जब साहित्य राजनीति के प्रचार-कार्य में लग जाता है तो वह अपने शाश्वत धर्म से च्युत हो जाता है; और उसमें स्थायित्व नहीं रहता। इसके प्रतिकूल भारतीय साहित्य जो जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपों का सजीव चित्रण किया करता है, वह अपनी दीर्घ परम्परा को अविच्छिन्न बनाए रखने में समर्थ होता है। यदि साहित्य भी राजनीतिक प्रचारकों के हाथ की कठपुतली बन गया और अपने चिरन्तन धर्म से विमुख हो गया तो वह व्यापक न बनकर संकीर्ण हो जाएगा। इस प्रकार वह समाज से स्थायी सम्बन्ध न बना पाएगा।

प्रेमचन्द जी कहा करते थे, "साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देशबन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौतिक रहता है।"

तात्पर्य यह है कि जिस साहित्य में देश की स्थिति दर्शाने का प्रधान उद्देश्य होगा और साहित्य की सार्वभौम भावना गौण स्थान धारण कर लेगी, वह साहित्य तत्कालीन समाज को भले ही क्षणिक उत्तेजना प्रदान करे, किन्तु स्थायी साहित्य नहीं बन सकता। समाज की स्थिति में परिवर्तन होते ही वह पुराना पड़ जाता है। और सच्चा साहित्य वह है जो कभी पुराना न पड़े। उसमें ऐसी व्यापकता हो जो प्रत्येक युग के सहृदय को मुग्ध बना सके।

साहित्य तथा विज्ञान-दर्शन का अन्तर

साहित्य की विशेषता दर्शन और विज्ञान से इसी कारण अधिक मानी जाती है कि ये दोनों समय की गति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं क्योंकि केवल बुद्धि के साथ इनका सम्बन्ध है। किन्तु साहित्य प्रत्येक युग के लिए समान रूप से आनन्ददायक होता है और हृदय का स्पन्दन सदा एक-सा रहता है। उसका रहस्य यह है कि वह हृदय का विषय है। हमारे अन्तःकरण में उठने वाली आशा और निराशा, हर्ष और विषाद, क्रोध और क्षमा की लहरियाँ सहस्रों वर्षों से एक समान हिलोरें ले रही हैं। वाल्मीकि और व्यास से आज तक के मानव-मानस में वे उसी प्रकार से किल्लोलें कर रही हैं।

हमारे मनोविकारों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं—सद्वृत्तियाँ और असद्वृत्तियाँ। साहित्य हमारे मनोविकारों का रहस्योद्घाटन करके सद्वृत्तियों को जगाता है और असद्वृत्तियों को नटखट बालक के समान दुलार-पुचकारकर राह पर लाता है। इसकी एक विशेषता है कि जहाँ ज्ञान और उपदेश, नीति और धर्म, डाँट और फटकार आदि युक्तियाँ असद्वृत्तियों को सुधारने में असफल हो जाती हैं वहाँ साहित्य हृदय की तंत्री को झंकृत करके मधुर संगीत से इन असद्वृत्ति-रूपी नागिनों को वशीभूत कर लेता है; और फिर उनके विषाक्त दाँतों को उनकी मस्ती की स्थिति में अपनी जादू की छड़ी के बल से धीरे से निकाल लेता है। जिस समाज में ऐसा साहित्य रचा जाता है वह समाज विजयी होता है, उसकी शक्ति अपरिमेय होती है, और वह निष्ठुर शत्रु को भी कोमल बना सकता है।

हमारे भारतीय इतिहास में नादिरशाह कठोरता की मूर्ति समझा जाता है। उसे भी इस जादू ने मोहित कर लिया। कहा जाता है कि नादिरशाह जब दिल्ली में क़तलेआम करा रहा था उस समय दिल्ली के बादशाह शाह आलम के हाथ-पाँव फूल गए थे। नादिरशाह की क्रोधाग्नि निरीह नर-नारियों को जला-जलाकर राख कर रही थी। उस दावाग्नि को शान्त करने का साहस किसी को नहीं हो रहा था। जो भी सामने आता, तलवार के घाट उतारा जाता। दिल्ली में खून की नदी बह रही थी। नादिरशाह के सेनानायक भी यह काण्ड देखकर चकित रह गये, किन्तु किसी का साहस न होता कि उसकी आज्ञा के विरुद्ध एक शब्द भी बोले।

दिल्ली के बादशाह का एक मंत्री साहित्यिक था। उसे यह हत्याकाण्ड असह्य हो उठा और अपनी हथेली पर जान रखकर उसने नादिरशाह से प्रार्थना की : "आपके नाज़ की तलवार ने अब किसी को जीवित न छोड़ा। अब तो

आपके लिए एक ही उपाय है कि आप मुर्दों को फिर जीवित कर दें और उन्हें फिर मारना प्रारम्भ कर दें।"[१] इसका प्रभाव हत्यारे नादिरशाह पर इतना गहरा पड़ा कि उसने सर्ववध की आज्ञा बन्द कर दी और हत्याकांड रुक गया। समाज सर्वनाश से बच गया। तलवार को वाणी से हार खानी पड़ी। समाज की रक्षा साहित्य ने की।

निष्कर्ष यह निकला कि साहित्य की जो शक्ति चिरन्तन सौन्दर्य से हृदय के तारों को स्पर्श करके भावों को स्पन्दित करती है, वही सामाजिक आदर्शों की स्थापना करके सामाजिक जीवन का निर्माण करती है। जिस देश का जैसा साहित्य होगा वैसा ही वहाँ का समाज बनेगा। साहित्य की प्रेरणा से समाज प्रेरित होता है। साहित्य समाज की नौका का कर्णधार है। वही सशक्त होने पर समाज-नौका को जीवन-सरिता में संचरणशील बनाता है और उसी के अशक्त होने से समाज-तरणी तिरोहित हो जाती है।

भारतीय और यूरोपीय साहित्य का इतिहास

प्रेमचन्द जी ने एक बार भारतीय और यूरोपीय साहित्य की तुलना करते हुए कहा था—"यूरोप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है।...साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते।"

साहित्य एक आदर्श स्थापित करता है और समाज उसका अनुसरण। जिस देश का जैसा साहित्य होता है उसका वैसा समाज बनता है। भारतीय साहित्य का आदर्श त्याग और तपस्या है, यूरोप का परिग्रह और सुख। भारतीय माया से मुक्ति में जीवन की सफलता मानता है और यूरोप अधिकार और उसके भोग में। हमारे आदर्श हैं व्यास और वाल्मीकि, सूर और तुलसी। यूरोप के आदर्श हैं होमर और वर्जिल, शेक्सपियर और मिल्टन।

समाज का प्रभाव साहित्य पर

यहाँ यह प्रश्न आता है कि क्या समाज साहित्य का सदा अनुवर्ती रहता

---

१. कसे न माँद कि दीगर ब तेग़े नाज़ कुशी।
मगर कि जिन्दा कुनी ख़ल्क़ रा व बाज़ कुशी॥

है अथवा उस पर अपना भी प्रभाव डाल सकता है ? यह सत्य है कि कवि भी समाज का अंग है। वह भी सामाजिक इकाई होने के नाते समाज से सर्वथा अविच्छिन्न नहीं है। सामाजिक क्रान्तियों और परिवर्तनों का प्रभाव उस पर पड़ना अवश्यम्भावी है। वह उनसे बच कैसे सकता है ! किन्तु यह भी सत्य है कि कवि इन संस्कारों से अनुप्राणित होता हुआ सोचता-समझता और अनुभव करता है। अतः उसके अनुभव सामाजिक क्रान्तियों और परिवर्तनों से सर्वथा निरपेक्ष हो कैसे सकते हैं ! और कविता है भी क्या ? वह कवि के पुञ्जीभूत संस्कारों और अनुभवों की अभिव्यक्ति ही तो है। यदि कवि की अनुभूतियाँ सामाजिक उथल-पुथल से निर्मित होती हैं तो रूढ़ियों के घेरे में अवरुद्ध कवि समाज का निर्माता कैसे हो सकता है ? यह एक विकट प्रश्न है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि साधारण व्यक्ति पर ही सामाजिक रूढ़ियाँ पूर्ण प्रभाव दिखाती हैं। असाधारण व्यक्ति इनसे प्रभावित होते हुए भी जल-कमल के समान निर्लिप्त रहता है, इनसे ऊपर उठा होता है। वह साधारण प्राणियों से बने समाज से परे अपनी एक स्वतंत्र सत्ता रखता है। वह समाज में रहते हुए भी समाज से अलग रहता है। पंक से शक्ति लेते हुए भी पंकज अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। 'कवि क्रान्तदर्शी होता है।'[1] उसकी दृष्टि त्रिकालदर्शी के समान व्यापक होती है। वह वर्तमान के साथ-साथ भूत और भविष्य को भी देख सकता है। वह वर्तमान को अतीत और अनागत के मध्य में रखकर उसकी महत्ता का मूल्यांकन करता है।

इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि वह वर्तमान के उचित मूल्यांकन में उनसे पिछड़ जाता है जिनका ध्यान सर्वथा वर्तमान पर ही केन्द्रीभूत है। नहीं, ऐसा नहीं होता। वह वर्तमान की उपेक्षा नहीं करता। वह नित्य बदलती हुई परिस्थितियों को देखकर उनके अनुरूप अभिनव विचारों का अभिनन्दन करता है। पर उसकी संवेदन शक्ति इतनी पैनी होती है कि वह अनागत को दूर से ही परख लेता है। परिवर्तनकारिणी शक्तियों से उत्पन्न होने वाली नयी स्थिति और उसके प्रभाव की झलक उसे समाज के अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। अतः अनिवार्य रूप से आने वाले सामाजिक जीवन की परिस्थितियों का ज्ञान उसे समाज के उन व्यक्तियों से कहीं अधिक रहता है, जिनका ध्यान केवल वर्तमान पर केन्द्रित है। जो कवि जितना महान् होगा उसकी दृष्टि की जीवनदायिनी शक्ति भविष्य को उतना ही अधिक स्पष्ट

१. कवयः क्रान्तदर्शिनः।

रूप से देख सकेगी। तात्पर्य यह है कि कवि समाज की वर्तमान परिस्थितियों से अनुप्राणित होता हुआ भी उनके बन्धनों में बँधता नहीं।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि परिवर्तन के साथ-साथ समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताएँ बदल जाने से काव्य के मूल्यांकन में भी अन्तर अवश्य पड़ेगा, अतः जो कवि समाज की वर्तमान परिस्थितियों से अनभिज्ञ रहकर काव्य-रचना करेगा वह उत्तम काव्य कैसे रच सकता है ? इसका उत्तर यह है कि सामाजिक जीवन को प्रेरित करने वाली एवं परिवर्तनकारिणी शक्तियों से कवि अनभिज्ञ रहता ही नहीं। वह प्रगति का साथ छोड़ सकता ही नहीं। कोई जागरूक कवि अपने युग की प्रगतिशीलता से परिचय प्राप्त किए बिना रह नहीं सकता।

दूसरी बात यह है कि किसी युग में घोर परिवर्तनों के कारण भले ही सामाजिक व्यवस्थाओं में रूपान्तर हो जाए किन्तु उनके कारण "हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादा का—हमारी सांस्कृतिक मान्यता का—बदल जाना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह तो हमारी नस-नस में व्याप्त है। उल्टा उसकी परीक्षा ही इन परिवर्तनों में होगी। कारण यह है कि काव्य तो अमिट सौंदर्य की सृष्टि करता है। उसके लिए कवि को अध्ययन से मुँह नहीं मोड़ना होगा। कविगण चारों ओर फैले हुए जीवन का अध्ययन करते हैं और इस अध्ययन से प्राप्त सुष्ठुतम अनुभूतियों को काव्यरीति से अभिव्यंजित करना चाहते हैं। इन अनुभूतियों में जीवन का रस और इस अभिव्यंजना में स्वानुभूत सौंदर्य की आभा होती है। इतना ही हमारे लिए अलम् है।"

साहित्य और वाद

काव्य में वादों का क्या स्थान है ? यह एक मार्मिक प्रश्न है। वाद है क्या ? वाद जीवन-सम्बन्धी विचारों और प्रवृत्तियों का बौद्धिक निरूपण है। वह समय-समय पर परिवर्तित होने वाली जीवन-धारणाओं को अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक वाद में सामाजिक जीवन का ह्रास-विकास निहित होता है। अतः वाद से विरत होकर कविता अपने अभिप्रेत अर्थ को किस प्रकार व्यक्त कर सकती है ?

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। काव्य शाश्वत धर्म का परिचायक होता है और जीवनव्यापिनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। वाद परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि का द्योतक होता है। यद्यपि काव्य और वाद दोनों सामाजिक जीवन से उद्भूत होते हैं, किन्तु दोनों की उद्भव-पद्धति में अन्तर है। काव्य की

प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, वाद की सैद्धान्तिक और समूहमुखी। "काव्य का कार्य है संवेदना की सृष्टि करना, वाद का काम है ज्ञान-विस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है काव्य का सार्वभौम। वाद की सार्थकता सामाजिक विकास के अग्रसर होने में है, काव्य की सौंदर्य के चिरनवीन रहने में। काव्य का लक्ष्य मानव-स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपों का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियों में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झाँकी दिखाता है; वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थिति का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी पर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आश्रय लेकर जो रूप निर्माण करती है, उसकी अनुरूप अनुभूति प्रत्येक सहृदय को सभी समयों और सभी देशों में अनायास ही होगी; किन्तु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक बार निरूपण होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका पड़ जाता है। और तब उस वाद को नये व्यक्तियों द्वारा नया जीवन देने की आवश्यकता होती है, नये सिरे से समझना होता है, नया संशोधन और नयी उपपत्तियाँ रखनी पड़ती हैं। और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नहीं हो पाता। अस्तु, हम कह सकते हैं कि काव्य और वाद मानव-जीवन से संबद्ध होते हुए भी दोनों का क्षेत्र पृथक् है। सहकारी होते हुए भी दोनों की कार्य-शैली भिन्न है। दोनों के रूप और प्रक्रिया में मौलिक अन्तर है।" (नन्ददुलारे वाजपेयी)

नाटक और सामाजिक जीवन

साहित्य और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध नाटकों के उल्लेख के बिना अधूरा रह जायगा। हमारे संस्कृत साहित्य में समाज के उच्चवर्ग के गण्यमान्य व्यक्तियों को नाटक का नायक बनाने की प्रवृत्ति थी। 'मृच्छकटिक' आदि दो-चार नाटक ही ऐसे हैं, जिनमें समाज के मध्यमवर्ग को नायक माना गया है। अंग्रेज़ी में शेक्सपियर के नाटकों में भी पात्र और कथावस्तु को महानता देने की प्रवृत्ति रही है। किन्तु इब्सन के उपरान्त यह प्रवृत्ति बदली और समाज के मध्यम एवं निम्नस्तर के व्यक्ति भी नाटक के प्रमुख पात्र बनाए गए। आर्थरवींग पिनरो जो प्रारम्भ में एक अभिनेता था, अपने युग का प्रसिद्ध नाट्यकार बन गया। उसने 'दी मनी स्पिनर', 'दी मैजिस्ट्रेट', 'दी स्कूल मिस्ट्रेस', 'डैंडी डिक' आदि नाटक लिखे। सन् १८९३ ई० में इब्सन से पूर्ण प्रभावित और समाज का नग्न चित्र खींचने वाला एक नाटक 'दी सेकिण्ड

मिसेज़ टैंकरे' विरचित हुआ ।

पिनरो के नाटकों में समाज का नग्न चित्र देखकर देश में खलबली मची और अधिकारी व्यक्तियों ने इनका विरोध किया । पिनरो के समकालीन हेनरी आर्थर जोन्स ने भी सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण का पूर्ण प्रयास किया । उनका मत था कि वही नाटक नाटक कहलाने योग्य है जिसमें समाज और संस्था की उदार भाव से आलोचना हो ।

इसी युग में[1] ऑस्कर वाइल्ड नाम का अत्यन्त प्रसिद्ध नाट्यकार उत्पन्न हुआ जिसने नाटक में बुद्धि की तीक्ष्णता को प्रमुख स्थान दिया । भाषा में भारी-भरकम शब्दों के स्थान पर बोलचाल की सरल किन्तु प्रभावशाली भाषा का प्रयोग किया । कथोपकथन में प्रवाह का वेग, क्षुरा की धार की तीक्ष्णता एवं दो टूक प्रवृत्ति पाई जाती है ।

बर्नार्ड शा ने बीसवीं शताब्दी में नाटक के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न की । सेंट जोन का नाटक एक नूतन नाट्यकला लेकर आया । इसमें तीन आदमी परस्पर बातें करते हैं । वार्तालाप के द्वारा सामाजिक जीवन का सजीव चित्र खींचा गया है ।

इस प्रकार इब्सन, पिनरो, ऑस्कर वाइल्ड आदि नाट्यकारों के प्रभाव से साहित्य में सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र खींचने का प्रयास हुआ । इन नाट्यकारों का प्रभाव हिन्दी के नाट्यकारों पर पड़ना स्वाभाविक ही था । अतः हिन्दी में भी विविध सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखे गये और साहित्य और सामाजिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया ।

यद्यपि "शेक्सपियर, बेन जॉन्सन आदि के ड्रामों में भी गौण रूप से समाज का चित्र खींचा गया है, और भाव, भाषा तथा विचार की दृष्टि से वे बहुत ही बड़ा महत्त्व रखते हैं, लेकिन यह निर्विवाद है कि उनका लक्ष्य समाज का परिष्कार नहीं, वरन् ऊँची सोसाइटी का दिल-बहलाव था । उनके कथानक अधिकतर प्राचीनकाल के महान् पुरुषों के जीवन या प्राचीन इतिहास की घटनाओं अथवा रोम और यूनान की पौराणिक गाथाओं से लिये जाते थे । शेक्सपियर आदि के नाटकों में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के पात्रों का अत्यन्त सजीव चित्रण और बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण है...लेकिन यथार्थ ज़ीवन की आलोचना उनमें नहीं की गई है । उस समय ड्रामा का यह उद्देश्य नहीं समझा जाता था ।"

---

१. ऑस्कर वाइल्ड (१८५५ से १९०० ई० तक)

तीन शताब्दियों में नाटकों का उद्देश्य नितान्त परिवर्तित हो गया। "अब वह केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है, वह केवल घड़ी-दो-घड़ी हँसाना नहीं चाहता, वह समाज का परिष्कार करना चाहता है, उसकी रूढ़ियों के बन्धनों को ढीला करना चाहता है और उसके प्रमाद या भ्रान्ति को दूर करने का इच्छुक है। समाज की किसी-न-किसी समस्या पर निष्पक्ष रूप से प्रकाश डालना ही उसका मुख्य काम है और वह इस सुन्दर कार्य को इस खूबी से पूरा कर रहा है कि नाटक की मनोरंजकता में कोई बाधा न पड़े, फिर भी वह जीवन की सच्ची आलोचना पेश कर सके।"

जन्मजात आयरिश नाट्यकार बर्नार्ड शा ने अंग्रेज़ी समाज की निर्बलताओं और कृत्रिमताओं की चुटकियाँ ऐसे व्यंग्य और परिहास भरे शब्दों में लीं कि अंग्रेज़ी समाज तिलमिला उठा। शताब्दियों तक विश्व के अधिकांश भाग पर शासन करने के कारण अंग्रेज़ी समाज में जो अहम्मन्यता, जो बनावटी शिष्टता, जो मक्कारी और ऐयारी, जो नीच स्वार्थपरता घर-घर में अड्डा जमाए थी उनका बहुरूप उतारकर उनको नग्नरूप में खड़ा करना 'शा' का ध्येय था। समाज के प्रत्येक दुर्बल अंग पर उन्होंने कलम का कुल्हाड़ा चलाया। इस प्रकार नाटकों को सामाजिक जीवन से ओत-प्रोत कर देने का प्रयास अंग्रेजी नाटककारों का लक्ष्य बन गया।

गाल्सवर्दी ने अपने नाटकों में सामाजिक विषमता का कलापूर्ण ढंग से चित्रण किया। उनके नाटकों—'चाँदी की डिबिया', 'न्याय' और 'हड़ताल' का अनुवाद प्रेमचन्द जी ने किया। प्रथम में धन के बल पर न्याय की हत्या, दूसरे में गबन करने वाले की आत्महत्या तथा तीसरे में मिल-मालिकों और श्रमिकों के संघर्ष का मर्मस्पर्शी चित्र खींचा गया है।

यूरोप में मेसफ़ील्ड नाम का एक प्रसिद्ध नाट्यकार इसी समय हुआ जो घोर वास्तविकतावादी था। उसने समाज में व्याप्त क्षुद्रता, धूर्तता और लम्पटता का यथार्थ चित्रण किया। अंग्रेज़ी भाषा के सम्पर्क में आने से पश्चिम के नाटककारों की रचनाओं ने हिन्दी लेखकों को प्रभावित किया और उनके द्वारा साहित्य के मुख्य अंग नाटक में आमूल परिवर्तन हुआ। प्राचीन संस्कृत नाटकों के समान आधुनिक काल का नायक वीरता और शिष्टता की मूर्ति नहीं माना जाता। वह समाज के एक वर्ग का प्रतिनिधि होता है। उस वर्ग के गुण-दोष उसमें उग्र-रूप में प्रकट होते हैं। आज की नायिका शालीनता और पावनता की देवी नहीं, वह स्वच्छन्द विहारिणी, तेजस्विनी या कामुक रमणी होती है। तात्पर्य यह है कि साहित्य में आदर्श के स्थान पर समाज के स्वाभाविक जीवन को प्रधानता दी जा रही है।

समाज और यथार्थवाद

नाटकों के अतिरिक्त उपन्यासों में भी यथार्थवाद के नाम पर समाज का बीभत्स चित्र खींचने का प्रयास पाया जाता है। यथार्थवाद की ओट में, समाज में व्याप्त व्यभिचार, अत्याचार, निर्लज्जता, कुकर्म आदि के अतिरंजित वर्णन से समाज की कुरीतियों के भंडाफोड़ का जो दृश्य दिखाया जा रहा है, उसका समाज पर न जाने क्या प्रभाव पड़ेगा!

कहीं-कहीं सामाजिक जीवन को साहित्य में स्थान देते समय सत्य और असत्य की ओर उतना ध्यान नहीं होता जितना कामुक की नग्न लालसा के उद्घाटन करने, विलास के गुप्त अड्डों के शोध करने तथा संयम-नियम को तिरस्कृत करने, उन्मुक्त भोग-वासना को उद्दीप्त करने की ओर होता है। आज के साहित्यिकों का एक वर्ग कदाचित् यह सोचता है कि समाज का उद्धार त्याग-व्रत, औदार्य-शौर्य आदि गुणों की महिमा से नहीं प्रत्युत वासनाओं को बेलगाम छोड़ देने से होगा।

यूरोप में साहित्य के लक्ष्य में कितना परिवर्तन हो गया है। अरिस्टाटल के युग में "साहित्यकार का उद्देश्य समाज में घटित होने वाली घटनाओं के तद्वत् वर्णन से पूर्ण नहीं होता था, उसे कल्पना के बल से ऐसी सम्भावित घटनाओं का वर्णन करना होता था जो समाज के मंगल के लिए आवश्यक थीं।"[1] जिस रचना में समाज के विकास की शक्ति हो, जो समाज के बीभत्स वर्णन से विषमता की भावना को (उद्दीप्त करने को कौन कहे) शान्त करे, जो दुखी और अस्वस्थ को सुखी और स्वस्थ बनाये, वही उत्तम रचना है।[2] हमारे देश में भी नाट्याचार्य ने नाटक की विशेषता बताते हुए लिखा कि यह दुखी, श्रमार्त, शोकार्त को विश्रान्तिदायक होता है। यह मनुष्य को धर्म, यश, आयु, मंगल का दाता और बुद्धि का प्रदाता होगा तथा लोक का उपदेष्टा होगा।[3]

---

1. The Poet's function is to describe, not the thing that has happened, but a kind of thing that might happen, i.e., what is possible as being probable or necessary.

2. To needy and sick he doth also his cure
   To comfort, if aught he can amend.

३. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
   विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
   धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
   लोकोपदेश-जननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥
   (नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय—११४-११५)

अथवा अरिस्टाटल के शब्दों में साहित्यकार का धर्म है—दुखी समाज को सुखी बनाना। अर्थात् साहित्य उस रचना को कहते हैं जो रोगी और दुखी को सुख-शान्ति दे, उसके दोषों का परिमार्जन करे। प्रेमचन्द के मतानुसार वह साहित्य क्या जो मनःशान्ति को भंग करे; सुख की वृद्धि को कौन कहे समाज में काम, क्रोध, लोभ आदि को उद्दीप्त करे।

तात्पर्य यह है कि यदि काल के प्रभाव से समाज का मनोविकार रोगी हो जाए तो साहित्य उसका निदान और उपचारकर्ता कविराज बने। समय के प्रवाह से जब सत्य निरादृत और असत्य गौरववान् बनने लगे तो साहित्य इस विषमता को दूर करके सत्य के गौरव की रक्षा करे। यही समाज और साहित्य में सम्बन्ध है।

"तात्पर्य यह है कि हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचारधाराओं का—वादों का—सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अनुवर्ती रूप में। साहित्य की अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण में इनका स्थान है। ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नहीं। साहित्य की अपनी सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन-सापेक्ष्य है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन-सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धान्त है।"

दूसरा अध्याय

काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

कवि अपने चतुर्दिक् फैले विश्व को केवल बाह्य नेत्रों से ही नहीं देखता। वह ऐसा विलक्षण द्रष्टा है कि उसके सम्मुख प्रकृति अपने वास्तविक रूप में खड़ी होकर अपना सौन्दर्य उसकी आँखों में उँडेल देने को व्याकुल हो उठती है। सामान्य व्यक्ति और कवि में यही अन्तर है कि सामान्य व्यक्ति जिस ध्वनि को कानों से नहीं सुन पाता कवि के कर्ण-कुहरों में वह ध्वनि अनायास पहुँच जाती है। जिन अदृश्य लोकों को सामान्य व्यक्ति देख नहीं पाता कवि के हाथों में वे हस्तामलक बन जाते हैं। जहाँ रवि नहीं पहुँच सकता, वहाँ कवि पहुँच जाता है। 'कवयः किं न पश्यन्ति' की कहावत इस बात का प्रमाण है कि कवि की दृष्टि अत्यन्त व्यापक होती है।

मेघ-पर्वत, नदी-सरोवर, लता-वृक्ष आदि को सामान्य व्यक्ति और कवि दोनों देखते हैं पर उनकी अनुभूतियों में अन्तर होता है। वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी जब प्रकृति का चित्रण करने बैठ जाते हैं उस समय सामान्य व्यक्ति विस्मय-विभोर हो उठता है। उसे प्रकृति के वे रूप दिखाई पड़ने लगते हैं जिनकी उसने कभी कल्पना भी न की थी। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि कवि जगत् के अनुभव के साथ अपना व्यक्तित्व मिलाकर प्रकृति और पुरुष को देखता है। प्रकृति वही है जिसे सामान्य व्यक्ति भी देख रहा है; पर सामान्य व्यक्ति के पास कवि का वह व्यक्तित्व नहीं जो उसे कवि की कोटि में बिठा सके। कवि साधना के बल से जीवन के सर्वोत्तम क्षणों का साक्षात्कार करता है। वह आचार्य भामह के कथनानुसार[1] समाधि की स्थिति में, प्लेटो के कथनानुसार[2] अनुप्रेरणा की स्थिति में,

---

१. काव्यकर्मणि समाधिः परव्याप्रियते। (काव्यमीमांसा)

2. A poet cannot compose unless he becomes inspired.

शैली के अनुसार रमणीय एवं उत्तम[1] क्षणों के दर्शन की स्थिति में पहुँचा होता है।

तात्पर्य यह है कि कवि का व्यक्तित्व महान् होता है, "वह प्रजापति है। वह जैसा चाहता है वैसा ही संसार को अपनी रचना के बल से परिवर्तित कर देता है।"[२] प्रश्न यह है कि ऐसा व्यक्तित्व कवि को कैसे और कहाँ से प्राप्त होता है? विविध आचार्यों ने इस विषय पर विविध ढंग से विचार किया है। कवि मस्तिष्क से मेधावी एवं हृदय की निर्मलता के कारण सहृदय होता है। वह बुद्धि-वैभव और रागात्मिका वृत्ति का सामञ्जस्य करता है। "जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य उसका मस्तिष्क करता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता उसे हृदय से प्राप्त होती है। वह अनुभूति के क्षणों में सत्य का दर्शन करता है और उसकी अनुभूति की परिपक्वता में सौंदर्य का तेज उसका सहायक होता है। पर उसका सौंदर्य-बोध विलक्षण प्रकार का होता है।"

कवि सौंदर्य की अनुभूति के क्षणों में सामान्य व्यक्ति से नितान्त भिन्न हो जाता है। उसका सौंदर्य-दर्शन आंशिक नहीं, परिपूर्ण होता है। उसके लिए सौंदर्य ईश्वर की सृष्टि का चमत्कार ही नहीं है वह तो सृष्टि का सर्वस्व बन जाता है।

उसकी दृष्टि में सौंदर्य इस विश्व का स्रष्टा होता है।[3] उसके सौंदर्य-भंडार में बाह्य जगत् की अनेकरूपता के साथ-साथ अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता भी क्रीड़ा करती है। कवि अपने सौंदर्य-बोध के बल से इतना विराट् बन जाता है कि 'छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्षक, भयानक' सब उसके अंक में समा जाते हैं। उसके "उजले कमलों की चादर जैसी चाँदनी में मुस्कराती हुई विभावरी यदि अभिराम प्रतीत होती है तो अँधेरे के स्तर को ओढ़कर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक-झुक पड़ने वाली लता कोमल है, तो शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकने वाला ठूंठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरल जलदान से पृथ्वी

---

1. Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and the best minds.

२. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥

3. Beauty is the creator of the universe.
—R. W. Emerson

कँपा देने वाला बादल ऊँचा है तो एक बूँद ओस के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाए हुए रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियों में जीवन-विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान् हैं पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।"

पश्चिम के आलोचकों ने तो कवि के सौंदर्य-बोध के अन्तर्गत ही महान् मंगल को सन्निविष्ट कर दिया। गेटे कहता है, "सौंदर्य का स्थान मंगल से उच्चतर है।"[1]

कवि नर-सामान्य के समान इस विशाल विश्व को नित्य देखता रहता है, किन्तु प्रकृतिजन्य सौंदर्य उसकी आँखों में कभी-कभी एक अलौकिक सौंदर्य के साथ झूमने लगता है। वे क्षण असाधारण अतः विरल होते हैं। कवि को उसके हृदय में अनेक बार उठने वाले क्यों, कैसे, क्या के उत्तर-रूप में वे चमत्कारपूर्ण क्षण प्राप्त होते हैं। वह जितने पदार्थों को देखता है उनमें से कुछ को हृद्य, कुछ को हेय और कुछ को उपेक्ष्य पाता है। उसका जिज्ञासु हृदय इनके विषय में प्रश्न पूछता रहता है कि ऐसा क्यों है? इस प्रश्न पर विचार करते-करते तन्मयता के क्षणों में उसे एक दिव्य ज्योतिर्मय प्रतिमा दिखाई पड़ती है, जिसे देखकर वह स्वतः विस्मय-विभोर हो उठता है। उसे अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। उसी आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए वह वाहन ढूँढता है। जब उसे उपयुक्त वाहन (सुन्दर भाषा) मिल जाता है तो उसका आकुल मन, हृदय में विद्यमान उस आनन्द-प्रतिमा का सौंदर्य पाठकों के सम्मुख रखने लगता है। वह चाहता है कि जैसी भावात्मकता उसके हृदय में विराजमान है वैसी ही वह पाठकों के हृदय में बिठा दे, जिससे वे भी कवि के समान आनन्द की हिलोरों में तैरने लगें। यही कवि का व्यक्तित्व है, जो उसे जन-सामान्य से पृथक् करता है।

कवि सौंदर्य का दर्शन प्रकृति के जड़ एवं चेतन दोनों पदार्थों में समान रूप से कर सकता है। वह जड़ को भी चेतन बना लेता है और चेतन को सौंदर्यमय। चेतन में उसका सौन्दर्य-दर्शन जीवन की परिपूर्णता की ओर अग्रसर होता हैं। दान्ते की बिएट्रिस, सूर की राधा, तुलसी की सीता में राशि-राशि सौंदर्य जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। इन कवियों ने सुन्दरता के द्वारा प्राप्त

---

1. The beautiful is higher than the good; the beautiful includes in it the good.

—Goethe.

पूर्णता को अपने जीवन में उतार-सा लिया था। उस अलौकिक सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए ऐसी प्रेम-साधना अनिवार्य बनती है, जो निरी बौद्धिक नहीं भावात्मक भी होती है। जो केवल अवकाश के क्षणों के लिए मनोरंजन का साधन नहीं, जीवन के एक-एक क्षण की प्राणदायिनी शक्ति बनती है। जिसके विना जीवन जीवन नहीं; जिसके बिना रागात्मिका वृत्तियाँ निर्जीव हैं, इन्द्रियाँ कर्महीन हैं, शक्तियाँ सुप्त हैं। दान्ते अपनी आराध्या देवी बिएट्रिस के प्रेम में केवल सौन्दर्य की ही परिपूर्णता नहीं देखता, वह उसमें विचारों की भी परिपक्वता का दर्शन करता है। वह बिएट्रिस के प्रेम-रहस्य को समझने के प्रयास से संसार को समझ लेता है, क्योंकि उसके प्रेम में उसे जीवन की पूर्णता मिलती है।[1] उसकी प्रतिमा आँखों के सामने आते ही समस्त संसार का ज्ञान उसके मन में समा जाता है।

यदि विचार करके देखा जाए तो बिएट्रिस दान्ते के, राधा सूर के, और सीता तुलसी के जीवन के अनुभवों की, उनकी महत्तम आकांक्षाओं की प्रतिमा के रूप में उनके सम्मुख —सतत साधना के उपरान्त—आविर्भूत हुई थीं। उनमें मानो कवि का व्यक्तित्व झाँक-झाँककर कवि को धन्य बना रहा है। कवि के व्यक्तित्व का उसकी कृति के साथ यही अनन्य सम्बन्ध है।

कवि के व्यक्तित्व और समाज के प्रति उसके दायित्व में क्या सम्बन्ध हो?— यह प्रश्न अनेक बार चिरकाल से उठता चला आ रहा है। क्या यह सम्भव है कि कवि समाज से पराङ्मुख होकर स्वनिर्मित कल्पना और सौन्दर्य के लोक में ही विचरण करता रहे? क्या कवि इस पलायनवाद से अपने व्यक्तित्व को विकासोन्मुख बना सकता है? यदि कवि का व्यक्तित्व विकसित न हुआ तो क्या वह उच्चकोटि की रचना कर सकता है?

हैनरी हडसन का कथन है कि "साहित्यकार मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन का अनुभव अपनी रचनाओं में उँडेलता रहता है।"[2] वह अपने जीवन में सुख-दुःख, आशा-अभिलाषा, विकास-ह्रास आदि भावों और उनके कारणों का अनुभव करता है। उसी के द्वारा उसका व्यक्तित्व बनता है। अतः अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करने वाली रचनाओं में वह अपने व्यक्तित्व को अनावृत करता है।

1. To love her is to be aware of life's perfection.
2. It is fundamentally an expression of life through the medium of language.

व्यक्तित्व और समाज

कवि की अपनी मौलिक शक्तियाँ समाज के वातावरण में विकसित अथवा ह्रासोन्मुख बनती हैं। सामान्य व्यक्ति के सदृश कवि की शक्तियाँ, उसके जीवन की गतिविधियाँ, समाज को संचालित करने वाले अनेक विधि-विधानों, स्वीकृति-निषेधों से परिचालित होती हैं। स्वाधीन से स्वाधीन प्रकृति का मनुष्य भी समाज से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। हाँ, प्रभाव की मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है। आज का आलोचक किसी भी कवि की कृतियों की आलोचना करते समय उसके व्यक्तित्व की महानता के साथ-साथ समाज का उस पर प्रभाव और उसका प्रभाव समाज पर दिखाना आवश्यक समझता है। कहीं कवि का व्यक्तित्व इतना महान् होता है कि समाज अपनी युग-युग की प्रचलित रूढ़ियों को त्यागने के लिए विवश होता है और कवि के व्यक्तित्व के सम्मुख नतमस्तक हो जाता है। ऐसा कवि समाज को एक नये ढाँचे में ढालता है। उसको परिष्कृत बनाता हुआ विकास की ओर ले जाता है। कबीर, सूर, तुलसी आदि का ऐसा ही व्यक्तित्व था। उन्होंने समाज की रूढ़ियों को कोमल फूल की माला के समान तोड़ डाला। प्रारम्भ में तो समाज ने इनका विरोध किया, किन्तु जब इनके व्यक्तित्व का लोहा मान लिया तो इन पर फूल-माला चढ़ाने को वह दौड़ पड़ा।

समाज का जीवन-प्रवाह चलते-चलते जब नई-नई समस्याओं की विशाल चट्टानों से अवरुद्ध होने लगता है, और उनको तोड़े बिना प्रवाह की गति रुकने लगती है तो प्रतिभाशाली कवि उनको चूर्ण करने की युक्ति निकाल लेता है। समाज उस युक्ति का प्रयोग करता है और विशाल शिलाखंड को कण-रूप में परिणत कर देता है। इस प्रकार जीवन-प्रवाह बड़े वेग से गतिमान बन जाता है।

कवि का व्यक्तित्व जितना महान् होगा उतना ही उसकी कृति का मान होगा। उसकी निष्ठा जितनी सत्य होगी उसकी रचना उतनी ही महत्त्वमय होगी। हडसन ने कहा है कि "हृदय की सचाई के बिना किसी सजीव साहित्य की सृष्टि सम्भव है ही नहीं।"[1]

यह निर्विवाद है कि हृदय में सचाई तभी स्थान पाती है जब मनुष्य की अनुभूति में गम्भीरता और दृष्टि में व्यापकता आ जाती है। जब चित्त चंद्रकांत मणि के समान बनकर अनुभूति की ज्योत्स्ना से द्रवित होने लगता है तो उससे

---

1. Without sincerity no vital work in literature is possible.
—Hudson.

अमृत-रस प्रवाहित होने लगता है । उसे ही पीकर रसज्ञ पाठक झूम उठता है । इसीलिए कहा जाता है कि कवि की आकर्षक रचनाएँ लौह-हृदय पाठकों को भी चुम्बक के समान अपनी ओर खींच लेती हैं । वे (पाठक) विस्मय-विभोर हो जाते हैं ।

कवि-कृति में कवि-व्यक्तित्व

अब प्रश्न उठता है कि कवि की कृतियों में उसके व्यक्तित्व की झलक किस प्रकार दिखाई पड़ती है । पश्चिम के आलोचकों ने इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है । उनका मत है कि कवि जीवन की समस्याओं पर चिन्तन करते-करते जीवन के रहस्यों का उद्घाटन करने को व्याकुल हो उठता है । नियति ने जीवन के रहस्य-रत्न को अनेक आवरणों के बीच छिपाकर रखा है । कवि अपने अनुभव और प्रातिभ ज्ञान के बल से उन आवरणों और आवेष्टनों की विविध तहों को एक-एक करके खोलता जाता है । जब सभी तहों को उधेड़कर रत्न को अनावृत कर देता है तो रहस्य-रत्न अपने स्वाभाविक रूप में उसके नेत्रों के सामने जगमगा उठता है । कवि उस रत्न की जैसी प्रतिमा देखता है शब्दों द्वारा वैसा ही चित्र अपनी रचना में उतारने का प्रयास करता है । जीवन-रत्न की ज्योति इतनी प्रखर होती है कि वह आवरणों की कतिपय तहों को भी बेधती हुई बाहर फूटी पड़ती है । इस प्रकार कवि को कभी-कभी जीवन के वास्तविक तथ्य का साक्षात्कार हुए बिना भी उसके धुँधले प्रकाश की अनुभूति होने लगती है । जो कवि उसी प्रकाश से सन्तुष्ट होकर उसके अपूर्ण चित्र की झाँकी दिखाने को व्याकुल हो उठता है वह अर्ध सफल अथवा असफल रह जाता है; किन्तु जो अपनी सत्यनिष्ठा और अपने सत्य संकल्प के बल से आवरण की समस्त तहों को उधेड़ फेंकता है, उसे सत्य के स्वाभाविक रूप का दर्शन होता है । उस रूप की प्रतिमा को प्रकट करने के लिए वह काव्य में नायक-नायिका की कल्पना करता है और उनके माध्यम द्वारा उस सत्य प्रतिमा की ज्योति को अभिव्यक्त करता है ।

इस प्रक्रिया को समझाने के लिए प्रसिद्ध आलोचक अबरक्रॉम्बी (Abercrombie) ने दान्ते, शेक्सपियर और मिल्टन की रचनाओं का आधार लिया है । उनका कहना है कि शेक्सपियर के 'हेमलेट' और मिल्टन के 'सैटन' में उक्त कवियों का जीवन-अनुभव मानो साकार हो उठा है । आलोचक का कहना है कि 'हेमलेट' और 'सैटन' में कवि—शेक्सपियर और मिल्टन—का कवित्वमय व्यक्तित्व झाँकता है । कवि का उद्देश्य है अपने कवि-जीवन के

अनुभव को अभिव्यक्त करना। कवि की कल्पना एवं उसके अनुभव में जीवन की जो मूर्ति झलकती है उसी की प्रतिमूर्ति उसके नायक-नायिका में प्रस्फुटित होती है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या कवि का व्यक्तित्व प्रतिनायक के रूप में भी अभिव्यक्त होता है। यदि प्रतिनायक में भी कवि-हृदय ही प्रतिमूर्त होता है तो एक ही मनुष्य (कवि) में रामत्व और रावणत्व का समावेश कैसे सम्भव है? आलोचकों ने इस प्रश्न को सुलझाया है। उनका मत है कि तुलसी और सूर ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया है उसकी प्रतिमूर्ति वे नायक राम और कृष्ण के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहते हैं; प्रतिनायक रावण एवं कंस के माध्यम से नहीं। प्रतिनायक रावण और कंस तो कवि के जीवन-लक्ष्य राम-कृष्ण के तेज को पूर्णतया प्रतिभासित कराने के लिए अन्धकार के पुंज-रूप हैं। रावण एवं कंस के अन्धकार में राम और कृष्ण-रूपी रत्न अधिक जगमगा उठते हैं। प्रतिनायक (रावण और कंस) राम-कृष्ण की ज्योति के दिव्यरूप को प्रोद्भासित करने के लिए कल्पना की तूलिका से रंजित वातावरण मात्र हैं। चित्र में विद्युज्ज्योति दिखाने के लिए मेघाडम्बर की पृष्ठभूमि अनिवार्य है।

मिल्टन का उदाहरण लीजिए। तत्कालीन राजनीति से असन्तुष्ट कवि राज्य के प्रति विद्रोह करता हुआ 'सैटन' की कल्पना करता है। उसका अपरिपक्व अनुभव 'सैटन' को जिस रीति से चित्रित करता है वह इस बात का साक्षी है कि राग-द्वेष से जर्जरित कवि-हृदय सत्य की प्रतिमा को अति गहन अन्धकार में टटोल रहा है और उसकी उपलब्धि न होने पर केवल अनुमान के भरोसे जीवन की व्याख्या कर रहा है। कवि के मानस-क्षेत्र में 'सैटन' की प्रेरणा और 'ईव' के अनुरोध से 'आदम' सेब का फल चखता है। परिणामस्वरूप 'पैराडाइज़' से च्युत होता है। मिल्टन का अनुभव जब परिपक्व होता है तो 'पैराडाइज़ रीगेन्ड' में ईसा अवतरित होता है और 'पैराडाइज़' की पुनः प्राप्ति होती है। मिल्टन का जीवन जिस स्तर पर पहुँचता है उसका काव्य भी उसी कोटि में पहुँच जाता है। अतः स्पष्ट हो गया कि कवि का व्यक्तित्व उसकी कृतियों में नायक की प्रतिमूर्ति बनकर पाठक के सामने उपस्थित होता है। कवि के व्यक्तित्व और उसके काव्य का यही अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

स्थायी और अस्थायी साहित्य

युग-युग से अनेक कवि रचना करते चले आ रहे हैं। ये अगणित कवि कहाँ गए? उनकी कृतियाँ क्यों अन्धकार में विलीन हो गईं? किन्तु वाल्मीकि और व्यास, सूर और तुलसी प्रभृति कवि और उनकी कृतियाँ क्यों उत्तरोत्तर सम्मा-

नित हो रही हैं ? यद्यपि यह सत्य है कि किसी ग्रन्थ का सम्पूर्ण भाग उत्तम एवं स्थायी काव्य नहीं होता, उसके कतिपय अंश सामान्य एवं अस्थायी साहित्य के रूप में दिखाई देते हैं, तथापि उत्तम काव्य का स्थायी अंश ऐसा सशक्त होता है और उसकी प्रबन्धात्मकता का प्रवाह ऐसा वेगमय होता है कि उससे घुल-मिल कर अस्थायी साहित्य भी स्थायी एवं गरिमामय बन जाता है। उदाहरण के लिए तुलसी का 'रामचरितमानस' लीजिए। स्थान-स्थान पर आपको ऐसी रचना मिलेगी जिसे यदि मूलग्रंथ से पृथक् कर दिया जाए तो वह निश्चय अस्थायी साहित्य बन जाए, किन्तु मानस की प्रबन्धात्मकता के रंग में रंजित होते ही वह रचना स्थायी बन जाती है।

स्थायी साहित्य का यह लक्षण है कि उसके पात्रों का व्यक्तित्व स्थायी होता है। यद्यपि पात्रों का व्यक्तित्व कवि के व्यक्तित्व के बल पर ही स्थायी बनता है, तथापि उसकी पृथक् सत्ता भी स्वीकार की जाती है। पाठकों के सम्मुख कवि का व्यक्तित्व पात्रों के व्यक्तित्व के उपरान्त आता है। व्यक्तित्व-प्रधान पात्रों की यह महिमा है कि वे काल्पनिक होते हुए भी सत्य प्रतीत होते हैं, परोक्ष होते हुए भी अपरोक्ष के सदृश प्रभाव डालते हैं, अमूर्त होते हुए भी सप्राण एवं सक्रिय प्राणी के समान हमारे सुख-दुःख के विधायक बनते हैं। इसका कारण है पात्रों का महान् व्यक्तित्व। जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में व्यक्तित्व-प्रधान मानव अपने क्रिया-कलापों, वचन और चिंतन से हमें गति प्रदान करता है, उसी प्रकार व्यक्तित्व-प्रधान पात्र अपने चिंतन और मनन से, वाणी और क्रिया से, पाठक के मन को शक्ति देता है। जिस पात्र का व्यक्तित्व जितना महान् होगा, उसका उतना ही स्थायी प्रभाव पाठक के मानस-पटल पर पड़ेगा। साहित्यकार की सफलता और विफलता की यही बड़ी कसौटी है। जिस काव्य के पात्र जितने दिनों तक पाठक के मन को उद्बुद्ध करते रहते हैं, वह काव्य उतने दिनों तक अमर बना रहता है। श्रेष्ठ कवि की यह महिमा है कि उसके पात्र देश-काल का अतिक्रमण करके व्यष्टि और समष्टि के जीवन में चेतना उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन में नैतिक बल के द्वारा आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। जिस समाज में आत्मविश्वास है वह समाज सशक्त है। समाज को सशक्त बनाकर साहित्य एक उद्देश्य को पूर्ण करता है।

पात्र में व्यक्तित्व

विचारणीय विषय यह है कि पात्रों का व्यक्तित्व कवि की रचना में किस प्रकार प्रस्फुटित होता है। अबरक्रॉम्बी ने अपनी पुस्तक 'दी आइडिया आफ़ ग्रेट पोएट्री' (The Idea of Great Poetry) में इस विषय पर विस्तार से

विचार किया है। उसका कहना है कि काव्य में पात्रों का आचरण एवं व्यवहार ही प्रत्यक्ष होता है; वे प्रेरणाएँ अव्यक्त रहती हैं, जिनके द्वारा पात्रों में विशेष प्रकार का आचरण और व्यवहार दिखाई पड़ता है। किन्तु उन आचरणों के मध्य से पात्रों का व्यक्तित्व उसी प्रकार फूट पड़ता है, जिस प्रकार सरित्सरोवर की उछलती तरंगों से पवन की प्रेरक शक्ति अनायास प्रकट होती है। तरंगों के उत्थान और पतन का अवलोकन करने से पवन की उस सत्ता का आभास स्वतः मिल जाता है जिसके बल से जल में स्पन्दन होता है। ठीक इसी प्रकार पात्रों की कार्यावली, उनके कथन और वार्तालाप, घटनाओं के उत्थान और पतन से पात्रों का व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है।

अतिमानव में मानव-व्यक्तित्व

दूसरा प्रश्न यह है—रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यों में अतिमानव पात्रों के द्वारा मानव का व्यक्तित्व किस प्रकार दिखाया जा सकता है? वाल्मीकि के पात्र विशेषकर राम और हनुमान को मानव किस प्रकार स्वीकार किया जाए? उनके चरित्र इतने महान् हैं कि उनमें मानव-व्यक्तित्व की संभावना कैसे की जाए? जिस धनुष को—

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा।

उस विशाल धनुष को सुकुमार राम सहज ही तोड़ डालते हैं। तुलसी के शब्दों में : "लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े। तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।" पाठक का मन सहसा इसे कैसे स्वीकार करे?

हनुमान की घटना और भी अलौकिक और अविश्वसनीय है। समुद्र-लंघन के समय का एक दृश्य देखिए :

जोजन भरी तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन विस्तारा॥
जस जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दून कपि रूप दिखावा॥
सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघुरूप पवनसुत लीन्हा॥

ऐसे असम्भावित कार्य कैसे सम्भव मान लिए जाएँ? ऐसी दशा में राम और हनुमान के मानवीय व्यक्तित्व का आभास कैसे सम्भव है? यदि मानवीय व्यक्तित्व के स्थान पर दैवी व्यक्तित्व की कल्पना की जाए तो उसका प्रभाव हमारे मन पर उतना गहरा कैसे पड़ सकता है? अतः अतिमानव पात्रों के माध्यम से कवि का व्यक्तित्व किस प्रकार झलक सकता है?

इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बाध्य होकर मानव-शक्ति को असीम और मानव-जीवन के रहस्यों को दुर्गम मानना पड़ता है। मानव कब

दानव से दुर्दान्त और कब देवता से भी महान् बन जाता है, कौन कह सकता है ! मानव में निहित शक्तियाँ उसके क्रिया-कलापों से सीमित नहीं बनतीं। हमारे युग का मानव जो कुछ सोचता-विचारता या अनुभव करता है, वही उसकी शक्ति की इतिश्री का परिचायक नहीं। मानव और उसकी शक्तियाँ इनसे ऊपर हैं जो तप-बल[1] से प्राप्त होती हैं। कारण यह है कि भौतिक शक्तियों से बढ़कर एक अदृश्य शक्ति और है जिसे आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं। इस शक्ति से अनभिज्ञ पाठक राम के कार्यों और व्यक्तित्व में भले ही असामंजस्य खोज निकाले, किन्तु जिन्हें अपरिमेय आत्मशक्ति का लेशमात्र भी ज्ञान है वे लोग इनमें सङ्गति बिठा लेते हैं, और उन्हें तुलसी का व्यक्तित्व इन अध्यात्म-परक घटनाओं के मध्य स्फुट होता दिखाई पड़ता है।

व्यक्तित्व व्याख्या का विषय नहीं है। यह हृदय में अनुभूतिगम्य होता है।[2]

प्रश्न उठता है कि—राम और हनुमान अपने व्यक्तित्व के कारण अथवा परम्परागत श्रद्धा और धार्मिक भाव के कारण हमारे लिए पूज्य बने हैं ? क्या श्रद्धा और धार्मिकता के कारण उनके मानव-रूप में हमारा विश्वास जम जाता है या उनके व्यक्तित्व के कारण ? क्या महामानव या अतिमानव का व्यक्तित्व हमारे हृदय को प्रभावित कर सकता है ?

इन प्रश्नों का तार्किक उत्तर देना सहज नहीं। राम या हनुमान के चरित्र में कुछ ऐसी विशेषता है जिससे अपावन मानव पावन बन जाता है, असहाय व्यक्ति भी आश्रय पा जाता है, दुःखी दुःख से मुक्त हो जाता है। यह अनुभव का विषय है तर्क का नहीं। राम और हनुमान शताब्दियों से लाखों-करोड़ों के जीवन-सम्बल रहे हैं। जनता उनके अलौकिक गुणों के कारण उन्हें अवतार मान बैठी है। तथ्य तो यह है कि राम के चरित्र में दो प्रकार का व्यक्तित्व है। महामानव का व्यक्तित्व और परमात्म तत्त्व का व्यक्तित्व। इसी प्रकार हनुमान दास्य भक्ति का प्रतीक मानव-रूप में है और योगिराज का प्रतीक देव-रूप में। इन्हीं दो प्रकार के व्यक्तित्व के कारण राम और हनुमान का चरित्र हमारे

---

१. यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्। —मनु

अर्थात् जिसको पार करना कठिन है, जिसको प्राप्त करना कठिन है, जहाँ तक पहुँचना कठिन है, जिसको करना कठिन है, वह सब तप से साध्य होता है क्योंकि तप का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

2. Our personality is not a thing we can explain.

सम्मुख अतर्क्य रूप में आता है ।

पात्र में कवि का जीवन और व्यक्तित्व

पश्चिम के कई आलोचकों का मत है कि कवि अपने चरित्र को अपने किसी न किसी पात्र में व्यक्त कर दिया करता है । अपने जीवन के दुःख-सुखों के पुञ्ज और घटनाओं के वैविध्य को वह एक विशेष पात्र के द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है । उसी पात्र के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व को पाठक तक पहुँचाना चाहता है । प्रमाण के लिए शेक्सपियर का उदाहरण दिया जाता है । शेक्सपियर ने हेमलेट पात्र के द्वारा अपना जीवन अभिव्यक्त किया है । ब्रैडले का कथन है कि जिस प्रकार शेक्सपियर को जीवन में (हेमलेट की रचना के पूर्व) लगातार कई सम्बन्धियों की मृत्यु का दुःख देखना पड़ा और थियेटर की नौकरी के छूटने की भी उसे आशंका बनी रही, ठीक उसी प्रकार हेमलेट को भी सम्बन्धियों की मृत्यु का दुःख सहना पड़ा और उसके पितृव्य स्वयं उसके पिता का वध करके हेमलेट के राज्याधिकार को अपहृत करना चाहते थे । इस प्रकार विचार करने पर ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्भवतः शेक्सपियर अपने जीवन और व्यक्तित्व को ही हेमलेट के रूप में अभिव्यक्त करना चाहता था ।

हमारे यहाँ भी कहा जाता है कि 'वाल्मीकि तुलसी भए'—वाल्मीकि का अवतार लेकर तुलसी आए । अर्थात् जिस प्रकार वाल्मीकि के आराध्य राम थे उसी प्रकार तुलसी के पूज्य राम बने । वाल्मीकि ने जिस प्रकार राम के व्यक्तित्व को प्रकट किया तुलसी ने भी उसी प्रकार अपनी श्रद्धा-भावना से ओत-प्रोत राम के चरित्र को हमारे सामने रखा । कविता है क्या ? मानव-जाति के उच्चतम विचारों को जब कवि की भावनाओं से ओत-प्रोत करके पाठक के सामने रखा जाता है तो वह कविता बन जाती है । तुलसी अपनी श्रद्धा के भावों को राम के उदात्त चरित्र में भरकर हमारे सामने रखते हैं । इस महाकाव्य में तुलसी का व्यक्तित्व हनुमान के रूप में और उनके विचारों की साकारता राम के रूप में देखी जा सकती है । इसीलिए कहा जाता है कि तुलसी हनुमान क पुजारी और राम के भक्त थे । इसी प्रकार सूर को उद्धव का अवतार माना जाता है । अर्थात् सूर का व्यक्तित्व उद्धव के रूप में देखा जा सकता है । इसीलिए नाभादास जी ने भक्तमाल में तुलसी को वाल्मीकि का और सूर को उद्धव का अवतार माना ।

व्यक्तित्व में असम्बद्धता

कभी-कभी हमें एक ही पात्र के चरित्र में विरोधी गुणों के दर्शन होते हैं, जिनसे

उनके व्यक्तित्व के निर्माण में एक प्रकार से अवरोध-सा प्रतीत होता है। हम लंका के अधिनायक रावण को एक ओर चारों वेदों का ज्ञाता और पूर्ण पंडित के रूप में देखते हैं, दूसरी ओर ऋषिगणों के शरीर से महा अत्याचारी के रूप में 'रक्त-कर' लेते हुए पाते हैं। एक ओर तो वह स्मरभस्मकारी शिव का उपासक है, दूसरी ओर परस्त्री का अपहरण करता है। क्या ऐसे विरोधी गुणों के कारण हमें रावण के चरित्र-निर्माण में सन्देह और व्यक्तित्व में अविश्वास नहीं होने लगता है? ऐसे सन्देहात्मक चरित्रों का प्रभाव पाठक पर किस प्रकार वांछनीय हो सकता है? जब तक पात्रों के चरित्र में सम्बद्धता न होगी तब तक उसका प्रभाव पाठक पर कैसे पड़ सकता है? पर तथ्य यह है कि काव्य में क्षण-क्षण घटित होने वाली घटनाओं के पीछे पात्र का व्यक्तित्व प्रेरणा देने वाला रहता है। पात्र का ही व्यक्तित्व है जो पाठक को दिव्य-दृष्टि प्रदान करके आनन्द की उपलब्धि कराता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कवि पात्रों का यही व्यक्तित्व काव्य द्वारा निर्मित करता है और इस निर्माण में उसका उद्देश्य कवित्व-दर्शन होता है। इस निर्माण में कवि व्यावहारिक सत्य को नहीं ग्रहण करता। अर्थात् जीवन में जो स्थिति जैसी है वैसी ही तद्वत् रूप में गृहीत नहीं होगी, प्रत्युत वास्तविक स्थिति को काव्यकला के आधार पर घटा-बढ़ाकर दिखाया जाता है, और इस प्रकार पाठक के हृदय पर प्रभाव डालने का प्रयास किया जाता है। कवि कल्पना-जगत् में एक विशेष प्रकार के जीवन-विधान की सृष्टि करता है; और उन्हीं को व्यवहृत करने के लिए पात्रों का ऐसा व्यक्तित्व निर्मित करता है जिसकी प्रेरणा से उसकी कल्पना साकार बनकर सत्य के रूप में अभिव्यक्त हो उठती है।

व्यक्तित्व से निर्माण में पात्र के विरोधी गुणों का भी विशेष महत्त्व होता है। अप्रत्याशित घटनाएँ हमारे मन को चमत्कृत करती हैं। रावण के व्यक्तित्व की यही विशेषता है कि वह चारों वेदों का ज्ञाता होकर भी अत्याचारी है, शिवपूजक होकर भी दुराचारी है, विद्वान् होकर भी अहंकारी है। वह एक ओर तो इस तथ्य का प्रतीक है कि वेदशास्त्रज्ञाता भी अत्याचारी, कामी और अहंकारी हो सकता है, दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व के बल से राक्षसी सभ्यता का पोषक बनता है। रावण के चरित्र की इसी असम्बद्धता से काव्य में चमत्कार आ गया है। जब हम किसी व्यक्ति के जीवन में अप्रत्याशित घटनाओं को घटते देखते हैं तो हमें इस नाटकीय शैली के कारण एक प्रकार का चमत्कार जान पड़ता है। यही चमत्कार काव्य को जीवनी शक्ति प्रदान करता है। अतएव यह समझना भ्रम होगा कि असम्बद्ध घटनाओं के कारण पात्र के व्यक्तित्व का विकास नहीं,

ह्रास होता है ।

गीति-काव्य में कवि का व्यक्तित्व

हिन्दी की छायावादी कविताओं में कवि का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रूप से देखने में आता है । अँग्रेजी रोमांटिक पोएट्री के सदृश छायावादी हिन्दी कविताओं में लेखक का वैयक्तिक दृष्टिकोण सबसे अधिक प्रमुख हो उठता है । कहा जाता है कि रोमांटिक कवि कीट्स और शेली की कविताओं में उनके व्यक्तित्व की सभी विशेषताएँ प्रस्फुटित हो उठी हैं । इन कवियों की अहंवादिता, विचारों की दृढ़ता, अज्ञान एवं आडम्बर के प्रति जुगुप्सा, स्पष्टता के प्रति निष्ठा, प्रेम और कारुण्य के प्रति सद्भावना उनके गीतों में फूट पड़ती है । ठीक इसी प्रकार 'निराला' की निर्भयता, 'प्रसाद' की रहस्यवादिता, पन्त की राष्ट्रीयता एवं दार्शनिकता, महादेवी की विरहानुभूति उनके गीतों के वातायन से रह-रहकर झाँकती रहती है ।

आधुनिक हिन्दी गीतों की मार्मिकता पर प्रकाश डालते हुए महादेवी वर्मा कवि के वैयक्तिक सुख-दुःख की ओर इस प्रकार संकेत करती हैं :

"सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है ।............................ वास्तव में गीत को कवि के आर्त क्रन्दन के पीछे छिपे हुए दुःखातिरेक के दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा । गीत यदि दूसरे का इतिहास न रहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है ।"

[गीति-काव्य और व्यक्तित्व के विषय में विस्तार के साथ गीति-काव्य के अध्याय में प्रकाश डाला जायगा । यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा ।]

व्यक्तित्व की महत्ता

व्यक्तित्व किसे कहते हैं ? इसका निर्माण किस प्रकार होता है ? व्यक्तित्व और चरित्र में क्या सम्बन्ध है ? दोनों में अन्तर क्या है ? व्यक्तित्व कितने प्रकार का होता है ?—ऐसे अनेक प्रश्न उठते रहते हैं । अर्वाचीन आलोचना-पद्धति में मनोवैज्ञानिकता जब से पैर जमाती जा रही है तब से इन प्रश्नों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है । आज का आलोचक कवि की कृतियों की आलोचना करके ही सन्तुष्ट नहीं होता वह कवि-मानस की उन प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना चाहता है जिनके बल से रचना सुसम्पन्न हुई । कवि के जिस बौद्धिक विकास

या ह्रास ने उसकी रचनाओं को उत्तरोत्तर प्रगति या अवगति दी, उसका परिचय प्राप्त करना आलोचना का अंग बन गया है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि "कवि की आलोचना में उसकी रचना की आलोचना तो आवश्यक है ही उसकी बुद्धि-प्रक्रिया, उसके उपकरण एवं उसके पूरे व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना भी अनिवार्य समझा जाता है ।"[१] अतः स्वाभाविक रीति से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व कहते किसे हैं ? व्यक्तित्व की विशद व्याख्या करने के लिए उसके दो रूप विषयि-गत व्यक्तित्व (Subjective Personality) और विषय-गत व्यक्तित्व (Objective Personality) को भली प्रकार समझ लेना चाहिए । व्यक्तित्व के दोनों रूपों को समझने के पूर्व हमें यह देख लेना चाहिए कि आधुनिक आलोचना में इन शब्दों का व्यवहार किस प्रकार किया जा रहा है ।

"कहा जाता है कि अमुक कवि की रचना श्रेष्ठ है क्योंकि इससे उसका व्यक्तित्व पूर्णतया अभिव्यक्त होता है ।"[२]

"कविता मनोवेगों को खोलकर रख देना नहीं प्रत्युत उनसे बचना है; व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, प्रत्युत व्यक्तित्व से बचकर निकल जाना है ।"[3]

व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

व्यक्तित्व का प्रगाढ़ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है । इसलिए यदि मनोविज्ञान का सहारा लेकर आलोचक कवि की आलोचना करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचे तो वह मनोवैज्ञानिकों को भी ग्राह्य बन सकता है । प्रसिद्ध मनोविज्ञान-शास्त्री फ्रायड का कहना है कि कवि का व्यक्तित्व समझने के पूर्व उसकी मानसिक शक्तियों का विश्लेषण आवश्यक है । मानसिक शक्ति के दो भाग हैं :

---

1. Criticism must concern itself, not only with the finished work of art, but also with the workman, his mental activity and his tools.

—Herbert Read.

2. The work of so and so is good because it is the perfect expression of his personality.

—Sir Arthur Quiller Couch.

3. Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.

—T. S. Eliot.

चेतन और अवचेतन । इन दोनों के मध्य का भाग पूर्वचेतन कहा जाता है । इस पूर्वचेतन का एक भाग तो चेतन के स्तर तक पहुँचने की शक्ति रखता है किन्तु दूसरा कभी चेतन तक नहीं पहुँच पाता । पूर्वचेतन का दूसरा भाग सदा अवचेतन की ओर गतिमान रहता है । फ्रायड[1] का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया की सुसम्बद्ध व्यवस्था होती है जिसको 'अहं' नाम से पुकारा जाता है । व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए इस अहंवाद या आत्मवाद को समझ लेना आवश्यक है ।

यह 'अहं' अथवा ईगो (ego) समस्त विचारों, प्रभावों एवं संवेदनाओं का सचेतन प्रवाह है । इस 'अहं' अथवा सुसम्बद्ध विचार-स्रोत से फ्रायड का दूसरा अभिप्राय उस सचेष्ट नियंत्रण से भी है जो मन की कतिपय वृत्तियों को हमारी चेतना से दूर ही नहीं फेंकता, वरन् उन वृत्तियों के प्रत्यक्षीकरण में भी बाधक एवं उनकी क्रियाशीलता में भी अवरोध होता है । यह नियंत्रण-शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न मात्रा में होती है । वह एक मानव के क्रिया-कलाप को दूसरे से पृथक् कर देती है, जिसके कारण उसका अपना स्वत्व, अस्तित्व और व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है ।

व्यक्तित्व और चरित्र

व्यक्तित्व शब्द से कुछ साम्य रखने वाला दूसरा व्यवहृत शब्द है 'चरित्र' (Character); किन्तु व्यक्तित्व और चरित्र में अन्तर है । हर्बर्ट रीड के अनुसार मानव में अन्तर्भूत प्रकृति को चरित्र की संज्ञा दी जा सकती है । यही प्रकृति या तो उसके भावोद्रेकों और मनोवेगों पर नियंत्रण रखती है या उनका दमन करती है । जिसके अभाव में ये मनोवेग मानव के व्यक्तित्व में स्थायी स्थान जमा सकते हैं ।

चेतना के प्रवाह में नकारात्मक और स्वीकारात्मक प्रवृत्तियों के संघर्ष और सामंजस्य के फलस्वरूप चरित्र की निर्मिति होती है । नकारात्मक और स्वीकारात्मक प्रवृत्तियाँ चरित्र-स्रोत को मर्यादित करने वाली तट-शिलाएँ हैं ।

अब प्रश्न उठता है कि अवांछनीय मनोवेगों पर नियंत्रण किस प्रकार किया जाए ? स्वभाव से ही समाज में रहने का अभ्यासी मानव क्या नियंत्रण की सुविधा के लिए एकान्त में निवास करने से अपने चरित्र का निर्माण कर

---

1. In every individual there is a coherent organisation of mental process, which we call his ego.

—Freud.

सकेगा ? तथ्य तो यह है कि किसी अन्तर्जात प्रवृत्ति को उसकी क्रिया के अव-रोध से दबाया नहीं जा सकता । वही व्यक्ति चरित्र-निर्माण कर सकता है जो समाज की भीड़-भाड़ में रहता हुआ पवित्रता की रक्षा करता है । इस विषय में गेटे का मत है :

"बुद्धि का विकास तो एकान्त में होता है किन्तु चरित्र-निर्माण संसार के प्रवाह में होता है ।"[1]

चरित्र की परिभाषा देते हुए एक आलोचक लिखते हैं, "नियामक सिद्धान्तों के अनुसार मानव की स्वभावजन्य वासनाओं का दमन करके सद्भावों और भावनाओं को स्थायित्व प्रदान करना चरित्र कहलाता है ।" इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि चरित्र में संकल्प अन्तर्निहित है । चरित्र के लिए बुद्धि अपेक्षित है । बुद्धि रहित व्यक्ति अर्धविक्षिप्त अथवा चरित्रहीन माना जायगा ।

चरित्र-निर्माण के उपकरण

चरित्र-निर्माण में एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए और वह है अनु-भव-सम्बन्धी । जिसका चरित्र निर्मित हो जाता है वह फिर आगामी अनुभव से अपने ऊपर किसी प्रकार का बाह्य प्रभाव नहीं पड़ने देता । कई विद्वानों का मत है कि चरित्र परिपक्व हो जाने पर किसी प्रकार के नैतिक और आत्मिक विकास के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता । यहाँ तक कि उसके मनोवेग भी उसको दूसरी ओर मोड़ नहीं सकते । तथ्य तो यह है कि मनोवेगों का कोई दृढ़ सम्बन्ध चरित्र से नहीं होता । मनोवेग उन लहरियों के समान हैं जो ऊपर ही एक दूसरे से टकराकर विनष्ट हो जाती हैं, अन्तस्तल को प्रभावित नहीं कर पातीं । इतिहास में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिन्होंने मैत्री और प्रेमभाव की उपेक्षा करके न्याय और दृढ़ संकल्प की रक्षा की है ।

चरित्र और व्यक्तित्व का अन्तर

कहना चाहिए कि चरित्र बाहर से गृहीत एक विशेष आदर्श है जिसके लिए व्यक्ति अपने सभी अधिकारों को तिलांजलि देता है । चरित्र का ठीक प्रतिपक्षी व्यक्तित्व (Personality) है जो हमारे मनोवेगों और भावनाओं का विधायक बनता है । चरित्र और व्यक्तित्व के इस अन्तर को भली प्रकार समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी प्रकार की शृङ्गारी कविताएँ (गीतिकाव्य के सहित) कवि के व्यक्तित्व की उपज होती हैं और वे (कविताएँ) चरित्र-निर्माण

---

1. A talent is formed in solitude, a character in the stream of world.

में अवरोधक[1] मानी जाती हैं।

व्यक्तित्व और फ्रायड

हम पूर्व कह आए हैं कि व्यक्तित्व का अर्थ है मानसिक प्रक्रिया में अनुरूपता अथवा एकरूपता की निर्मिति। इस एकरूपता का अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति सदा-सर्वदा प्रत्येक परिस्थिति में एक प्रकार की ही भावना रखे अथवा एक-सा ही कार्य करता रहे। व्यक्तित्व का अर्थ इससे व्यापक है। वास्तव में व्यक्तित्व का अभिप्राय है अपने आन्तरिक स्वरूप को इस प्रकार दृढ़ कर लेना कि मनुष्य प्रत्येक परिवर्तनशील स्थिति के अनुरूप अपने को मोड़ सके। व्यक्तित्व का अर्थ अपरिवर्तनशीलता नहीं, प्रत्युत स्थिति के अनुकूल चलने की वह शक्तिमत्ता है जो मनुष्य को प्रत्येक क्षण अपना दृष्टिकोण दिखाने को प्रस्तुत करती है। आदर्श व्यक्तित्व का लक्षण यह है कि वह मनुष्य को इस परिवर्तनशील जगत् की नित्य नूतन बनने वाली गतिविधि के अनुरूप चलने के लिए उसके विचारों को प्रगति देता रहे।

व्यक्तित्व के नियम में एमर्सन और गेटे का मत

एमर्सन का कथन है कि जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित हो जाता है वह निरपेक्ष भाव से ऐसी विवेक-बुद्धि बना लेता है जो परिस्थितियों के अनुकूल सर्वोत्तम सिद्ध होती है। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व के बल से मनुष्य नित्य अरुणोदय में ही निवास करता है अर्थात् उसके विचार नित्य नवीन बने रहते हैं, कभी पुराने होते ही नहीं। और अपने ही नियमों से बँधकर वह असम्बद्धता के गर्त में गिरने से बच जाता है। किन्तु ऐसी उच्च धारणा वाला व्यक्तित्व विरला ही देखने में आता है। व्यक्तित्व की पूर्णता और निर्भयता की पराकाष्ठा होने पर मांटेन के अनुसार जीवन की यह स्थिति बन जाती है :

"मैं जो कुछ करता हूँ उसे सम्यक् रीति से सम्पन्न बनाता हूँ। यह मेरा सहज स्वभाव बन गया है। मैं कदाचित् ही कोई ऐसा कदम उठाता हूँ जिसे तर्क स्वीकार न करे अथवा मेरी आन्तरिक शक्तियों से जो परिचालित न हो। मेरी निर्णायिक शक्ति प्रत्येक कार्य का यश अथवा अपयश लेने को तैयार रहती है। इसका कारण यह है कि जन्म से मेरी एक ही साध, एक ही दिशा, एक ही शक्ति मुझे पथ दिखाती आ रही है।"[2]

---

१. शृंगारी कविताएँ चरित्रवान् व्यक्ति पढ़ना उचित नहीं समझता।

2. What I do I do thoroughly, as a matter of habit, and make

उक्त प्रकार का व्यक्तित्व बहुत ही दुर्लभ होता है। दैनिक जीवन में हमें ऐसे व्यक्ति विरले ही दिखाई पड़ते हैं। जिस अहं का हम पूर्व उल्लेख कर आये हैं उसकी थोड़ी व्याख्या अनिवार्य है। व्यक्तित्व को भली प्रकार समझने के लिये अहं की व्युत्पत्ति समझ लेनी चाहिए। अहं हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान-शक्तियों का समन्वय है जो चेतना में विद्यमान अनुभव से उत्पन्न होता है; जिसके उद्भव में आन्तरिक दृष्टिकोण का विशेष हाथ रहता है। इस आन्तरिक दृष्टिकोण और चेतना में विराजमान अनुभव के लिए बाहर से लादा हुआ दबाव काम नहीं देता। बाहर से बलात् आरोपित बन्धन चरित्र-निर्माण में भले ही सहायक हो किन्तु व्यक्तित्व के लिए जिस 'अहं' की आवश्यकता होती है वह बाहरी दबाव से आविर्भूत या परिपालित नहीं होता।

'अहं' के निर्माण में जिस निर्णायिका बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है उसे स्वतः हमारी चेतन शक्तियाँ ढूँढ़कर निकालती हैं, वे ही उसका निर्वाचन करती हैं; बाह्य शक्तियों के द्वारा वह मनोनीत नहीं होती। इस प्रकार व्यक्तित्व का उद्भव जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया में सम्बद्धता होने पर ही दृष्टिगत होता है। वह किसी बाहरी स्वेच्छाचारिणी शक्ति के अनुशासन के बल पर सम्भव नहीं।

व्यक्तित्व की व्यापकता

व्यक्तित्व इतना व्यापक होता है कि इसे किसी परिभाषा की सीमा में बाँधना सहज नहीं। वह आदर्शों से भी परे अपनी सत्ता रखता है। जब हमारे सक्रिय विचार-शक्तियों के क्रम में सामंजस्य हो जाता है, और जब हमारी विविध इच्छाओं और भावों के पारस्परिक सम्बन्ध में सन्तुलन आ जाता है तब व्यक्तित्व किसी कोने से हमारी ओर झाँकने लगता है।

हम कह आये हैं कि व्यक्तित्व और चरित्र में अन्तर है। व्यक्तित्व का मूल है कुशाग्रबुद्धि (Talent) और चरित्र निर्भर करता है निर्धारित सिद्धान्तों (Regulative Principle) के पालन पर। किसी व्यक्ति में कुशाग्रबुद्धि हो तो

---

one step of it; and I seldom take any step that steals away and hides from my reason, and that is not very nearly guided by all my faculties in agreement, without division or inner revolt. My judgement takes all the blame or all the praise for it; and the blame it once takes it takes always, for almost from birth it has been one—the same inclination, the same direction. the same strength—Montaigne's Essays.

उसके जीवन में भी निर्धारित सिद्धान्तों का पालन पाया जाए, यह कोई आवश्यक नहीं। इसी प्रकार यदि कोई आदमी निश्चित सिद्धान्तों पर अपना जीवन साधने वाला हो तो उसमें बुद्धि की कुशाग्रता हो ही यह भी आवश्यक नहीं। ये दोनों गुण भिन्न-भिन्न हैं। एक दूसरे पर ही निर्भर हो यह अनिवार्य नहीं।

कवि में प्रातिभ ज्ञान (Inspiration) होता है, उसमें चरित्र-बल हो या न हो। इसी प्रातिभ ज्ञान के बल पर वह कभी-कभी सत्य का दर्शन करता है। जितने काल तक वह सत्य का दर्शन करता है उतना समय उसकी काव्य-रचना का सर्वोत्तम क्षण होता है। उस काल में जो कुछ सूझ जाता है उसमें उसका व्यक्तित्व झलकने लगता है।

व्यक्तित्व और आचार्य कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने भी 'वक्रोक्तिजीवितम्' में कवि के व्यक्तित्व पर बल दिया है। वह काव्य की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, "कवेः कर्म काव्यं"। डा० नगेन्द्र 'भारतीय काव्य-शास्त्र' की भूमिका में लिखते हैं कि उनकी (कुन्तक की) यह धारणा तो अत्यन्त दृढ़ है ही कि काव्य की मूलप्रेरक शक्ति कवि है—उसकी प्रतिभा ही काव्य का एकमात्र आधार है।

कुन्तक कवि के स्वभाव को काव्य का मूल प्रेरक तत्व मानकर कहते हैं—"स्वभावो मूर्ध्निवर्तते।" वे कवि के व्यक्तित्व को भी काव्य में स्वीकार कर लेते हैं।

व्यक्तित्व-दर्शन

कवि के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों में भी स्फुरण (Inspiration) के क्षण आते हैं। किन्तु सामान्य व्यक्ति और कवि की अन्तःप्रेरणा या स्फुरण के क्षणों में अन्तर होता है। कवि की अन्तःप्रेरणा की गहनता सामान्य जन से कहीं अधिक होती है। कवियों की जीवनियों से ये बातें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। वाल्मीकि को भी क्रौंच-वध के समय जो प्रातिभ ज्ञान मिला, उनको जो प्रेरणा या अन्तश्चेतना काव्य-रचना की मिली वह सामान्य व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं। यूरोप का प्रसिद्ध साहित्यिक ल्यूबोक (Lubbock) कहता है कि "मध्य रात्रि के एकान्त और शांत क्षण में वह अपने मस्तिष्क के सबसे भीतरी कक्ष को खोलता है और उस समय वह अपने प्रातिभ ज्ञान के समक्ष जा खड़ा होता है।"[1]

---

1. It is as though for once at an hour of midnight in silence and solitude he opened the innermost chamber of his mind and stood face to face with his genius.

—Lubbock.

दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि एकाग्रता के क्षणों में कवि अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार करता है और उस समय उसे जो प्रेरणा या अन्तश्चेतना मिलती है उसके बल पर वह असामान्य रचना करता है।

कुछ आलोचकों का मत है कि केवल प्रातिभ ज्ञान के दर्शन या स्फुरण (Inspiration) से ही कोई व्यक्ति कवि नहीं बनता। कवि बनने के लिए उन क्षणों का सदुपयोग और उन क्षणों के बार-बार आने का प्रयास भी आवश्यक है। यदि उन अलौकिक क्षणों को योंही टाल दिया जाए, उनका उपयोग न किया जाए तो वे व्यर्थ चले जाते हैं और फिर कदाचित ही लौटकर आते हैं। कवि का आवश्यक गुण है कि वह अपने व्यक्तित्व से अनभिज्ञ न रहे, और साथ ही साथ मूलबद्ध इस स्वाभाविक शक्ति को उद्दीप्त भी करता रहे। इस शक्ति को अविभाजित बनाने में ऐसी युक्ति करे कि अन्दर की अन्य शक्तियाँ अथवा प्रवृत्तियाँ विद्रोह न कर उठें।

कलाकार की विभिन्न श्रेणियाँ

प्रत्येक कलाकार को उपर्युक्त सिद्धान्त पर चलना होता है। विभिन्न प्रकार के कलाकारों की मानसिक शक्तियों में अन्तर नहीं होता, अन्तर केवल उनके उपकरणों और वातावरण में होता है। एक कवि और चित्रकार में अन्तर वाचिक-मौखिक और चित्ररूप-चक्षुदृश्य का है अर्थात् उनकी पद्धतियों या शैलियों में अन्तर नहीं होता, अन्तर है केवल साधनों में या उपकरणों में।

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकार को चरित्र की रूढ़ि से बचना होता है। चरित्र-बल से मनुष्य कार्य-संचालन में पटुता प्राप्त करता अतः वह कर्मठ बनता है।

कीट्स (Keats) ने एक पत्र में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है:

"प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति निष्क्रिय बुद्धिवादी पर उसी प्रकार प्रभाव डालता है जिस प्रकार वायव्य रसायन किसी जड़ पिण्ड पर, परन्तु उसका कोई निजी अस्तित्व नहीं होता, न कोई निश्चित चरित्र ही होता है—अपना एक निश्चित अस्तित्व रखने वाले व्यक्ति को 'शक्ति-सम्पन्न' व्यक्ति की संज्ञा दी जा सकती है।"[1]

---

1. "Men of genius are great, as certain ethereal chemicals operating on the mass of neutral intellect, but they have not any individuality, any determined character. I would call the top and head of those who have a proper self—Men of Power."

इस आधार पर यदि कहा जाए कि कलाकार और कर्मठ व्यक्ति में सैद्धान्तिक विरोध है तो कोई अनुचित न होगा। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो व्यक्तित्व-प्रधान कवि और चरित्र-प्रधान कवि की रचनाओं में अन्तर स्पष्ट हो जाए। गीतिकाव्य और प्रबन्धकाव्य के रचयिता कवियों की शक्तियों का विश्लेषण करने से यह बात समझ में आ जाएगी। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया जा सकता है कि एक ही कवि की कृतियों में यदि दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलें तो उसे किस श्रेणी में रखा जाय? तुलसीदास ने गीतिकाव्य और प्रबन्धकाव्य दोनों प्रकार की रचनाएँ कीं। उन्हें व्यक्तित्व-प्रधान कवि माना जाए अथवा चरित्र-प्रधान?

इसका उत्तर देने के लिए अनेक तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। उनकी दोनों प्रकार की रचनाओं की मात्रा और श्रेष्ठता की तुलना करके भी उत्तर ढूंढ़ा जा सकता है, पर यह कहना अधिक सत्य होगा कि वे सबसे परे, सबसे महान् थे। वे एक लोकोत्तर प्रतिभा के साथ इस संसार में अवतरित हुए। प्रतिकूल परिस्थितियों में परिपालित होते हुए भी अपनी प्रतिभा को उद्दीप्त करते रहे और अपने व्यक्तित्व एवं चरित्र के बल से जनता को मंगलकारी सन्देश देकर चले गए। ऐसे महाप्रतिभ मुक्तात्मा महात्मा को न कोई परिभाषा बाँध सकती हैं, न कोई विज्ञान उनका विश्लेषण कर सकता है। शुद्ध-बुद्ध-निरंजन रहस्यमय शक्ति की उपासना करते-करते वे महात्मा स्वयं शुद्ध-बुद्ध-निरंजन और रहस्यमय बन जाते हैं।

तुलसी का व्यक्तित्व

हम कह आए हैं कि काव्यों से कवि का व्यक्तित्व दमकने लगता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलसी के ग्रन्थों से उनका व्यक्तित्व इस प्रकार अभिव्यक्त किया है: "तुलसीदास का व्यक्तित्व उनके ग्रन्थों में बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। अत्यन्त विनम्र भाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व के प्रधान तत्व हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य में यह तथ्य भरा पड़ा है। आराध्य की ऐसी एकनिष्ठ भक्ति, ऐसा अनन्य विश्वास और इतनी अखण्ड आस्था संसार के इतिहास में दुर्लभ है। निरन्तर विष-पान करने से जो व्यक्ति नीलकंठ हो गया था, उसके मुँह से आशा और विश्वास की यह अद्भुत वाणी निकली है। इस प्रकार अपने अखण्ड विश्वास और गम्भीर अध्ययन के योग से वे एकदम नवीन जगत् का निर्माण कर सके हैं।"[1]

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २२७

तीसरा अध्याय

काव्य के रूप

(भारतीय आचार्यों के मत से)

काव्य

भारतीय वाङ्मय में काव्य को सर्वाधिक महत्व मिला है। काव्यमीमांसाकार ने वाङ्मय के दो रूप[1] सिद्ध किए हैं—शास्त्र और काव्य। इन दोनों में से काव्य का इतना व्यापक प्रसार है कि भारतीय आचार्यों ने अत्यन्त प्राचीनकाल से काव्य के स्वरूप का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है।

स्वरूप

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने कहा है : जो शब्दार्थ (रचना) दोष रहित, गुण सहित और अलंकार से प्रायः युक्त हो वह 'काव्य' है।[2] ऐसा कहा है तो माना जाएगा कि काव्य के अवयवों का वर्णन मात्र किया गया है। काव्य में शब्द और अर्थ की योजना रहती है। ये दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं।[3] शब्द बिना अर्थ के नहीं रह सकता और अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द के बिना असम्भव है। किन्तु केवल शब्द और अर्थ का सह भाव ही काव्य माना गया तो यह लक्षण वैसा ही है जैसे यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमें हाथ, पाँव, नाक, कान तथा प्राण साथ-साथ रहते हैं। काव्य का ऐसा लक्षण स्थूल माना जाएगा। साथ ही रसवत्ता के अभाव में हृदयग्राही परामर्शक भी नहीं है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य' माना है।[4] इस परिभाषा में मनोहारी अर्थ को बताने वाले शब्द को काव्य माना गया है। ऐसी स्थिति में यदि किसी पद में कुछ शब्द मनोहारी अर्थ देने वाले हों और कुछ न हों तो भी उसे काव्य कहने से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने सभी आचार्यों के लक्षणों का सार

---

१. शास्त्रं काव्यञ्चेतिवाङ्मयंद्विधा। (काव्यमीमांसा)

२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। (काव्यप्रकाश)

३. वागर्थाविवसंपृक्तौ। (रघुवंश)

४. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। (रसगंगाधर)

लेकर अतिव्याप्ति दोष से बचकर एक निर्दोष लक्षण 'रसात्मक-लोकोत्तरानन्ददायक वाक्य'[1] को काव्य कहा है। इसमें 'रस' शब्द काव्य के भीतरी तत्व का बोधक है।

काव्य का सम्बन्ध लोक से है। कवि अपनी कृति लोकरंजन के लिए उपस्थित करता है। 'रंजन' का अर्थ केवल सुखी, प्रसन्न या उत्फुल्ल करना ही नहीं है। दुःख की अनुभूति कराकर करुणा उत्पन्न करना, द्रवीभूत करना भी है। कवि सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावों द्वारा लोकरंजन करता है। काव्य के भावों में लीन होने से पाठक की या श्रोता की हृदय-वृत्तियाँ विकसित होती हैं। काव्य के द्वारा जन-जन के हृदय में एकात्मता स्थापित होती है। इस 'एकात्मता' का मूल 'सहृदयता' है क्योंकि कविता सहृदय-हृदय-संवेद्य होती है। सहृदयता का अर्थ है : भाव-ग्राहकता। यदि पाठक, श्रोता तथा दर्शक सहृदय नहीं तो अनुकार्य (पात्र) के भावों को ग्रहण नहीं कर सकता। सहृदयता दोनों पक्षों अर्थात् उत्पादक और सामाजिक दोनों के लिए अनिवार्य है। अतः काव्य का स्वरूप ठहरता है—भावों का विधान करके रसमग्न करने वाली रचना; और काव्य का चरम उद्देश्य हुआ—मनोवृत्तियों का शोधन। इस प्रकार काव्य या साहित्य समाज के लिए महत्वपूर्ण अंग है, उसे कोरे मनोरंजन की वस्तु मान लेना और समाज के लिए गौण या अनुपयोगी बताना हृदयहीनता और बुद्धिहीनता का परिचय देना है। जैसे पश्चिम में कतिपय आलोचकों के मतानुसार समाज-तत्व की आड़ में आज काव्य या साहित्य कोरी भावुकता का उद्दीपक मानकर समाज के लिए अनुपयोगी कहा जाने लगा है, और 'कला कला के लिए' जो नारा बुलन्द किया गया वैसे ही हमारे यहाँ धर्म की आड़ में काव्य को तौला गया था। पर, वस्तुतः धर्म का जो लक्ष्य है वही काव्य का भी है। वृत्तियों का परिष्कार ही धर्म का भी लक्ष्य है और काव्य का भी। यथा धर्म में स्वर्ग-प्राप्ति तथा नरकादि का भय प्रदर्शित किया जाता है, उसी प्रकार काव्य में भी 'राम की तरह आचरण करना चाहिए रावण की तरह नहीं।' यही उद्देश्य निहित होता है।

काव्य का आनन्द लोकोत्तर या अलौकिक माना जाता है। सांसारिक आनन्द क्षणिक या सीमाबद्ध होता है। कुछ समय बाद आनन्द की वह अनुभूति वैसी नहीं रह जाती जैसी प्रथम क्षण में हुई थी। संसार में पुत्रोत्पत्ति, धनागम, पदोन्नति ये ही आनन्द के विशेष साधन माने गए हैं। पर देश-काल के अन्तर से ये भी क्षीण हो जाते हैं। काव्य का आनन्द लोकोत्तर होता है। बार-

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। (सा० दर्पण)

बार किसी मर्मस्पर्शी प्रसंग के पढ़ने पर भी या किसी दृश्य को देखने पर भी हृदय में उसके प्रति उपराम नहीं आता। क्योंकि यह आनन्द देश, काल और सीमा से परे है। राम-वनवास के प्रसंग में ग्राम-वधुओं के प्रश्न पर सीता ने जो शालीनता के साथ उत्तर दिया है, क्या त्रिकाल में भी वह पुराना पड़ सकता है ? तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' देखकर नित्य अश्रुपात का कौन लोभ-संवरण कर सकता है ?

काव्य का प्रयोजन

काव्य का प्रयोजन, उत्पादक (कर्ता) और पाठक दोनों के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही करना उपयुक्त है।[1] कवि की दृष्टि से काव्य का मुख्य प्रयोजन यश या आत्मतृप्ति[2] है। अर्थ-सिद्धि या कार्य-सिद्धि तो गौण है। उत्पादक को जो यश-प्राप्ति होती है वह उसके जीवन तक ही नहीं रहती, युग-युगान्तर तक बनी रहती है।[3]

कवि का भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है पर उसका जरा-मरण से रहित यशःशरीर अमर रहता है।[4] जब तक उस साहित्य का, उस भाषा का, उस जाति का लोप नहीं होता तब तक अवश्य जीता है। कवि आत्मतृप्ति से पूर्ण-काम हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के उपसंहार में भी आत्मतृप्ति को ही प्रधानता दी है।[5]

आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजन को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है और यह प्रायः सर्वमान्य भी है। काव्य से यश-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल से रक्षा, मोक्ष तथा कान्ता के समान उपदेश की प्राप्ति होती है।[6] यश-प्राप्ति के उदाहरण, कालिदास, तुलसी, सूर आदि हैं। धन-प्राप्ति के ज्वलंत उदाहरण भूषण, केशव, गंग हैं। व्यवहार-ज्ञान तो सारे विज्ञ पाठकों को ही मिलता है। सूर्य की स्तुति से मयूर कवि ने कुष्ठरोग से मुक्ति पाई थी,

---

१. काव्यादि स्वार्थमन्यार्थश्च। (साहित्यसार)

२. स्वान्तः सुखाय। (तुलसी)

३. स्वार्थश्चतुर्विधः कीर्ति संपत्ति तृप्ति मुक्तिवपुः क्रमात्। (साहित्यसार)

४. जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्। (भर्तृहरि)

५. मत्वा तद्रघुनाथ नाम निरतं स्वान्तस्तमः शान्तये,
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसी दासस्तथा मानसम्। (मानस)

६. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे। (काव्यप्रकाश)

यह अमंगल से रक्षा का उदाहरण है। 'कांतासंमित' का विशेष महत्व है। संमित या रीति तीन प्रकार की मानी गई है : प्रभुसंमित, सुहृदसंमित और कान्ता-संमित। प्रभुसंमित का अर्थ हुआ स्वामी की भाँति। जिस प्रकार स्वामी अपने सेवकों को किसी कार्य के करने या न करने की आज्ञा देता है, उसी प्रकार जो रचना विधि और निषेध का विधान करने वाली हो उसे प्रभुसंमित उपदेश कहेंगे। इसके उदाहरण हैं, वेद और शास्त्र। सुहृदसंमित का अर्थ है मित्र की भाँति। मित्र उपदेश देते समय अनेक उदाहरण और दृष्टान्त देकर लाभ-हानि दोनों पक्षों को उपस्थित कर समझाता है। इसी प्रकार जो रचना उदाहरणों और दृष्टान्तों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण करती है वह सुहृदसंमित उपदेश देने वाली कही जाती है; जैसे महाभारतादि पुराण। कान्ता कोई उपदेश विधि-निषेध या दृष्टान्त द्वारा सीधे नहीं कहती, वह तो भाव-भंगिमा से केवल इंगित करती है। इसी प्रकार जो रचना संकेत द्वारा साध्य का ज्ञान कराती हो उसे कांतासंमित उपदेश देने वाली रचना कहते हैं। काव्य इसी प्रकार की रचना है। काव्य स्पष्ट रूप से कोई बात नहीं कहता। वह अपना अभिप्रेत संकेत द्वारा व्यक्त करता है। जैसे 'रामचरितमानस' का साध्य यह है कि राम की तरह लोकोपकारादि का आचरण करना चाहिए, रावण की भाँति दुराचरण नहीं करना चाहिए। यह संकेत से ऐसा कहा गया है। वेद, शास्त्र, पुराणादि का प्रभाव भले ही किसी पर न पड़े, पर काव्य का अवश्य पड़ता है। इसका प्रधान कारण यह है कि काव्य हृदय की भाव-पद्धति पर चलता है किन्तु अन्य रचनाएँ बुद्धि की तर्क-पद्धति पर। भाव-पद्धति का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। तर्क-पद्धति का बहुत कम या कभी-कभी बिलकुल नहीं। इसी कारण महाभारत या अन्य पुराण काव्यमय अनेक अंशों से विभूषित होते हुए भी काव्य नहीं माने गए हैं।

काव्य के भेद

काव्य के भेद तीन प्रकार से किए जा सकते हैं—शैली की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से और बंध की दृष्टि से। शैली के विचार से काव्य के तीन भेद होंगे—पद्य, गद्य और मिश्र। रचना की वह शैली जिसमें छन्दों का विधान किया जाता है 'पद्य' कहलाती है। इसमें व्याकरण द्वारा स्वीकृत सामान्य क्रम का उल्लंघन हो सकता है और रचयिता को ऐसी छूट दी जाती है जिससे भाषा के सामान्य स्वीकृत नियमों का भी उल्लंघन कर सकता है।[1] 'गद्य' वह शैली है जिसमें व्याकरण के नियमानुसार वाक्यों का विन्यास किया जाता है। 'कविता' पद्य में लिखी जाती है और उपन्यास, कहानी, निबन्धादि गद्य

---

१. अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्। (प्रसिद्धि)

में। नाटकों में पद्य और गद्य दोनों शैलियाँ चलती हैं। प्राचीन काल में गद्य की रचना पद्य-रचना से भी कठिन मानी जाती थी। रचनाकार की परख के लिए गद्य शैली एक कसौटी मानी जाती थी।[1] मिश्र-काव्य गद्य और पद्य दोनों शैलियों का सम्मिलित रूप है। प्राचीन काल में इसे 'चम्पू'[2] कहते थे। जैसे 'देशराज चरित' संस्कृत का प्रसिद्ध चम्पू ग्रन्थ है। संस्कृत के ही अनुकरण पर स्वर्गीय प्रसाद जी ने 'उर्वशी' नाम का एक चम्पू लिखा था। पर इस शैली का प्रचलन नहीं के बराबर हुआ। नाटक में गद्य और पद्य दोनों शैलियाँ प्रयुक्त होती हैं अतः इसे मिश्र के अन्तर्गत मान सकते हैं। पर, चम्पू और नाटक में भेद है। चम्पू में अलंकार का चमत्कार, समास का गुम्फन तथा कल्पना का विशेष प्रकार का उद्रेक रखा जाता है किन्तु नाटक में 'संवाद' की प्रधानता होती है। साथ ही 'चम्पू' श्रव्य काव्य का भेद है, अतः नाटक को 'चम्पू' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह तो दृश्य काव्य है। इन सभी शैलियों को मिलाकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' नामक प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है। अतः इसे चम्पू कह सकते हैं। कभी हिन्दी नाटक पद्य-शैली पर ही लिखे गये थे। अब शैली से इतना उपराम हुआ है कि नाटकों से पद्य को उड़ा ही दिया गया है। अब तो केवल गद्य शैली पर ही नाटक लिखे जा रहे हैं।

अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के तीन प्रकार हैं : उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य। प्रत्येक रचना का कोश, व्याकरणादि-सम्मत जो प्रसिद्ध अर्थ निकलता है उसे 'मुख्यार्थ'[3] कहते हैं। कभी-कभी मुख्यार्थ के अतिरिक्त उन्हीं शब्दों से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है, इसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। कहीं मुख्यार्थ में ही चमत्कार दिखाई देता है, कहीं दोनों का चमत्कार समान रूप में होता है और कहीं मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होता है।

उत्तम काव्य

जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारी होता है, उस रचना को उत्तम या ध्वनि काव्य[4] कहते हैं।

यथा : अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध, और आँखों में पानी॥ (यशोधरा)

गुप्त जी ने यशोधरा की वियोगावस्था पर ये पंक्तियाँ लिखी हैं। इस पद में वाच्यार्थ तो यही है कि 'नारी-जीवन में दो बातें मुख्य हैं—आँचल में दूध और आँखों में आँसू'। व्यंग्यार्थ है : 'नारी-जीवन में दो बातें प्रधान होती हैं, वात्सल्य और

---

१. गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। (प्रसिद्धि)
२. गद्य-पद्य मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। (सा० दर्पण)
३. साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। (काव्यप्रकाश)
४. इदमुत्तममतिशयिनिव्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधैःकथितः। (काव्यप्रकाश)

वेदना ।' यशोधरा पुत्र राहुल के लिए एक ओर वात्सल्य उंडेल रही है तो दूसरी ओर सिद्धार्थ के लिये विरह-वेदना के कारण आँखों में आँसू भी लिए है। यहाँ व्यंग्यार्थ में चमत्कार है, वाच्यार्थ में नहीं।

मध्यम काव्य

जहाँ व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के तुल्य या उससे दबता हुआ होता है, उसे 'मध्यमकाव्य' कहते हैं। व्यंग्यार्थ गौण (अप्रधान) रहने के कारण 'गुणीभूतव्यंग्य' भी कहते हैं।

यथा : **रघुबर बिरहानल तपे, सह्य शैल के अन्त।**
सुख सों सोये शिशिर में कपि कोपे हनुमंत ।। (हिन्दी रसगंगाधर)

वाक्यार्थ है : 'जाड़े की ऋतु में राम की विरहाग्नि में तपे हुए 'सह्य' नामक पर्वत पर सुख से सोये हुए वानर हनुमान पर क्रुद्ध हुए'। व्यंग्यार्थ है : 'हनुमान ने सीता का कुशल-समाचार जब राम को सुनाया तो राम की विरह-ज्वाला शान्त हुई, इससे सह्य पर्वत पर शीत की अधिकता का अनुभव करने के कारण वानरों का हनुमान पर क्रोध करना संगत हुआ।' यहाँ व्यंग्यार्थ सिद्ध होता है। अतः वाच्यार्थ का साधक होने के कारण व्यंग्यार्थ गौण हो गया। परन्तु गौण होने पर भी व्यंग्यार्थ का चमत्कार महत्वपूर्ण है।

अधम या चित्रकाव्य

जिस काव्य में केवल वाच्यार्थ में ही चमत्कार पाया जाता है, व्यंग्यार्थ का नितान्त अभाव होता है, उसे 'अधम' या 'चित्रकाव्य' कहते हैं। ऐसे काव्य में अलंकार की प्रधानता रहती है, जिसका सम्बन्ध शब्द अर्थात् काव्य के बाहरी स्वरूप से रहता है। वाच्यार्थ में चमत्कार अवश्य होता है पर व्यंग्य के अभाव में इसे हीन ही माना जाता है।

बन्ध के विचार से

बन्ध के विचार से रचनाएँ दो प्रकार से देखी जाती हैं—एक प्रबन्ध और दूसरी निर्बन्ध। जिस रचना में कोई कथा क्रमबद्ध कही जाती है, उसे 'प्रबन्धकाव्य' कहते हैं। जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती और जो स्वच्छन्द रूप से किसी पद्य या गद्य-खण्ड के द्वारा कोई रस या भाव को व्यक्त करता है उसे 'निर्बन्ध' या 'मुक्तक' कहते हैं। प्रबन्ध के भी तीन रूप पाए जाते हैं, एक तो ऐसी रचना होती है जिसमें पूर्ण जीवन-वृत्त विस्तार के साथ वर्णित होता है। ऐसी रचना को 'महाकाव्य'[१] कहते हैं। महाकाव्य

१. (क) सर्ग बन्धो महाकाव्यम् तत्रैको नायकः सुरः।
(ख) शृंगार वीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
(ग) आदौनमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा।
(घ) सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।

सर्ग अर्थात् अध्यायों में बँटा होना चाहिए। एक नायक हो। नायक देवता, कुलीन क्षत्रिय होना चाहिए। शृङ्गार, वीर अथवा शान्त इनमें से कोई प्रधान रस होना चाहिए। अन्य रस अंग बनकर आएँ। सन्धियाँ सभी हों। आरम्भ में आशीर्वादात्मक या वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण हो। सर्ग न बहुत बड़े हों, न अधिक छोटे। सर्ग-संख्या कम से कम आठ हो। सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना हो। संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातः-काल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्रादि का वर्णन महाकाव्य के लिए आवश्यक है। किन्तु कहीं ऐसा न हो कि कवि उक्त वर्णनों को ही काव्य का लक्षण मानकर इन्हीं की योजना में दत्तचित्त हो जाये और रस की अभिव्यक्ति पर ध्यान ही न दे।[1] जैसा 'रामचन्द्रिका' में केशवदास जी ने इन वर्णनों को ही ध्यान में रखा। 'हरिऔध' जी ने 'प्रिय-प्रवास' का वर्णन किया और करील के कुंजों का वर्णन ही नहीं। जिस रचना में खण्ड जीवन महाकाव्य की ही शैली में वर्णित हो उसे 'खण्डकाव्य' कहते हैं। जैसे संस्कृत में 'मेघदूत' तथा गुप्त जी का 'जयद्रथ-वध'। हिन्दी में कुछ ऐसी भी रचनाएँ हुई हैं जिसमें जीवन-वृत्त तो पूर्ण लिया गया है, पर महाकाव्य की भाँति वस्तु का विस्तार नहीं दिखाई देता। ऐसी रचनाओं में जीवन का कोई एक ही पक्ष विस्तार से प्रदर्शित किया जाता है। इन्हें 'एकार्थ काव्य' कहना उपयुक्त होगा।[2] प्रिय-प्रवास, साकेत, वैदेही-वनवास, कामायनी आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।
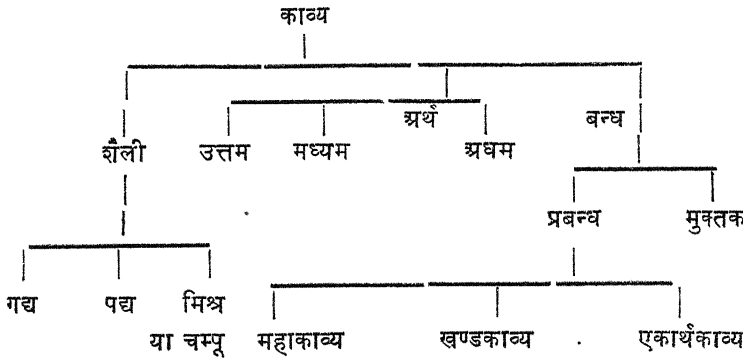
१. संधिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
नतु केवलया शास्त्र स्थिति संपादनेच्छया। (ध्वन्यालोक)

२. भाषा विभाषा नियमात् काव्यं सर्ग समुत्थितम्।
एकार्थ प्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्य वर्जितम्। (सा० दर्पण)

रस

साहित्य के मूल में एक ऐसी प्रवृत्ति होती है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है। और जिससे साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम 'सौंदर्य की भावना' कहते हैं। सौंदर्य-प्रियता की ही सहायता से मनुष्य अपने उद्गारों में 'रस' भर देता है, जिससे एक प्रकार के अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। जिसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा जाता है। रस का सम्बन्ध है अनुभूति से। यह अनुभूति दो प्रकार की होती है: एक को साक्षात् या प्रत्यक्षानुभूति कह सकते हैं और दूसरी को काव्यानुभूति या रसानुभूति। अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों से जीवन में क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भावों की जो अनुभूति करते हैं वह प्रत्यक्षानुभूति होती है। काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से जो हमारे हृदय में क्रोध, करुणा, घृणा, प्रेम आदि भाव जगते हैं, इसे काव्यानुभूति या रसानुभूति कहेंगे। प्रत्यक्षानुभूति दो प्रकार की होती है। सुखात्मक और दुःखात्मक। सुखात्मक की ओर तो हम प्रवृत्त होते हैं पर दुःखात्मक से हम हट जाते हैं। अतः वह निवृत्तिमूलक हुआ। किन्तु काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से सुखात्मक या दुःखात्मक किसी प्रकार के भाव की अनुभूति जब हृदय में होती है तब मन की केवल एक ही स्थिति होती है। वह इन दोनों प्रकारों में रमता है। मन के रमने के कारण यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति से परिष्कृत कही जा सकती है। मन के इसी रमण के कारण ही इस अनुभूति को 'रस' कहा जाता है।

रस की स्थिति दर्शक या पाठक में ही हो सकती है तथापि प्राचीन आचार्यों ने अपने विभिन्न प्रकार के मत प्रदर्शित किए हैं। इसका विवेचन दृश्य काव्य के आधार पर समीचीन होगा। तीन प्रकार के व्यक्ति भावों का अनुभव करने वाले दिखाई देते हैं।

१. जिनका चरित्र नाटकों में वर्णित होता है। अर्थात् जिनका रंगमंच पर अनुकरण किया जाता है। इन्हें 'अनुकार्य' कहते हैं, जैसे दुष्यन्तादि।

२. वे जो अनुकरण करते हैं। ये अभिनेता या नट कहलाते हैं।

३. दर्शक या सामाजिक। रस की स्थिति का विचार करते हुए लोगों ने उसे अनुकार्य में माना; कुछ ने अनुकार्य और अभिनेता दोनों में तथा कुछ लोगों ने केवल दर्शक या पाठक में ही। इस प्रकार चार सिद्धान्त माने गये। आचार्य भट्टलोल्लट का 'उत्पत्तिवाद', आचार्य शंकुक का 'अनुमितिवाद', आचार्य भट्टनायक का 'भुक्तिवाद', और अभिनवगुप्तपादाचार्य का 'अभिव्यक्तिवाद'।

आचार्य भट्टलोल्लट

आपके विचार से रस की स्थिति अनुकार्य में ही होती है। अनुकार्यों के अनुरूप वेश-भूषा, वाणी-भंगिमा के द्वारा अभिनेता जब रंगमंच पर उनके कार्यों का अनुकरण करते हैं तो उन अभिनेताओं को ही दर्शक लोग अनुकार्य समझ लेते हैं। अनुकार्यों के भावों की नटों में उत्पत्ति हो जाती है। इन विलक्षणता को देखकर दर्शक का हृदय भी चमत्कृत हो उठता है। उसके हृदय का केवल रंजन होता है, उसमें रस की स्थिति नहीं होती।

आचार्य शंकुक

शंकुक ने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा कि अनुकार्य में रसोत्पत्ति मानना विलक्षण बात है। अतः मानना चाहिए कि अभिनेताओं की वेश-भूषा से अनुकार्य की अवस्था का अनुमान करके दर्शक आनन्दित होते हैं। इस प्रकार के अनुमान से उनका चित्त विशेष चमत्कृत होता है। इसको 'चित्रतुरंगन्याय' से समझाया जा सकता है। जैसे, चित्र में बने घोड़े को देखकर लोग कहते हैं कि यह घोड़ा दौड़ रहा है यद्यपि वह चित्र-लिखित स्थिर है, उसी प्रकार यद्यपि अभिनेता अनुकार्य नहीं होते तथापि दर्शक उन्हें अनुकार्य ही मान लेता है। और इस स्वीकृति के साथ-साथ अभिनेताओं में उनके भावों का भी अनुमान कर लेता है।

आचार्य भट्टनायक

भट्टनायक ने 'अनुमितिवाद' का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि पाठक या दर्शक अनुकार्य के भावों का अभिनेता में अनुमान करके आनन्दित होता है तो उसका ऐसा आनन्दित होना व्यर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि अनुमान से केवल आश्चर्य ही हो सकता है। दर्शकों में विभिन्न प्रकार की जो चेष्टाएँ होती हैं वे न होतीं। इसलिए यह निश्चित है कि रस की स्थिति दर्शक में ही होती है। इसे समझाने के लिए उन्होंने दो प्रकार की शक्तियों की कल्पना की। उनकी मान्यता है कि काव्य में वर्णित विषयों में एक ऐसी शक्ति हो जाती है जिससे वे दूसरों के भोगने या ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। इस शक्ति का नाम 'भोजकवृत्ति' है। साथ ही यह भी बतलाया कि काव्य पढ़ते या नाटक देखते समय पाठक या दर्शक के मन में ऐसी वृत्ति जगती है जो उसे काव्यार्थ ग्रहण करने योग्य बना देती है। उसका नाम 'भोगवृत्ति' है। भोजक वृत्ति द्वारा गुरु, देव या श्रद्धेय अनुकार्य के विशेषत्व का आवरण हट जाता है और वे पूज्य न रहकर एक साधारण व्यक्तिमात्र

रह जाते हैं। ऐसे ही पाठक या दर्शक भी अपनी व्यक्तिगत विशेषता त्यागकर केवल एक साधारण व्यक्ति रह जाता है। रजस्, तमस् भाव दब जाते हैं; केवल सत्वगुण की ही प्रधानता रह जाती है। इस प्रकार अनुकार्य के और दर्शक के विशेषत्व से रहित होकर केवल 'साधारण' रह जाने से दोनों का 'साधारणीकरण' हो जाता है और दर्शक अनुकार्य के भावों का रस-रूप में आनन्द लेता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य

भट्टनायक के सिद्धान्त से अभिनवगुप्तपादाचार्य का कोई विशेष वैमत्य नहीं है। इनका कहना है कि भट्टनायक ने भोजक और भोग-वृत्ति को व्यर्थ माना है। इन्होंने अपना 'अभिव्यक्तिवाद' दिखलाते हुए यह बतलाया कि काव्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से व्यञ्जना नामक ऐसी वृत्ति है जिसकी सीमा का विस्तार करने से ही काम चल जाता है। अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार पाठक या दर्शक में विभिन्न प्रकार के भाव वासना-रूप में पहले से ही स्थिर रहते हैं।[1] काव्य केवल उन वासनाओं को उद्बुद्ध कर देता है। अर्थात् ये वासनाएँ अव्यक्त रूप में बराबर स्थित रहती हैं, काव्य के प्रदर्शन से केवल उनकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

उक्त सभी सिद्धान्तों में से अभिनवगुप्तपादाचार्य का ही सिद्धान्त समीचीन माना गया है और इन्हीं की रस-परिपाटी अन्य आचार्यों ने स्वीकृत की है।

रस की निष्पत्ति

भरतमुनि ने विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है।[2] निष्पत्ति का अर्थ प्रकाश में आना है। जैसे अंधेरे में कोई वस्तु स्थित रहते हुए भी हमें दृष्टिगोचर नहीं होती पर प्रकाश में आते ही स्पष्ट दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार विभावादि उपकरणों से बीज-रूप में स्थित रत्यादिभाव लौकिक आवरण के हटते ही 'रसवत्ता'[3] को प्राप्त हो जाते हैं। विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से व्यक्त होकर स्थायी भाव सहृदयों के हृदय में रस को प्राप्त होता है। इसमें व्यक्त का अर्थ है परिणत होना। जैसे 'दध्यादिन्याय' से दूध ही दही रूप में व्यक्त होता है।

---

१. विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तःस तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥ (काव्यप्रकाश)

२. विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः। —भरतमुनि

३. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥ (सा० दर्पण)

रस के अवयव

रस के चार अवयव माने गए हैं : विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारीभाव ।

विभाव : का अर्थ है कारण, हेतु या निमित्त । जो लोक में या काव्य-नाटकादि में हृदय की वृत्तियों को उद्‌बुद्ध करते हैं वे विभाव कहलाते हैं ।[1] ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन । जिसके आधार पर कोई मानसिक स्थिति टिकती है उसे 'आलम्बन' कहते हैं । जहाँ यह मानसिक स्थिति दिखाई देती है उसे 'आश्रय' कहते हैं । शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में 'रति' पैदा हुई । इसमें शकुन्तला आलम्बन हुई, दुष्यन्त आश्रय । इन दोनों पक्षों में कुछ ऐसी चेष्टाएँ और व्यापार होते हैं जो एक दूसरे के लिए सहायक प्रतीत होते हैं । आलम्बन में जो चेष्टाएँ होती हैं उन्हें 'उद्दीपन' कहते हैं और आश्रय में जो चेष्टाएँ होती हैं उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं । उद्दीपन भी दो प्रकार के होते है : एक तो आलम्बनगत चेष्टाएँ और दूसरे प्राकृतिक या बाह्य परिस्थितिजन्य ।

अनुभाव : अनुभाव भी मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—एक तो आश्रय की चेष्टाओं के रूप में और दूसरे उक्तियों के रूप में । अनुभाव के अधिक से अधिक चार भेद हो सकते हैं—सात्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य । सात्विक अनुभाव वे हैं जो स्वतः जागरित होते हैं; जैसे, स्वेद, रोमांच, कम्पन, विवर्णता आदि । कायिक अनुभाव में भ्रू-संचालन, हस्त-विक्षेप, ओष्ठ-दंशन, कटाक्षादि हैं । मानसिक अनुभाव में प्रमोद, विव्वोक, असूया, खिन्नता आदि आते हैं । आहार्य में वेश-विन्यास आदि माने जाते हैं ।

स्थायी भाव : ये नाटक में आठ होते हैं किन्तु काव्य में नौ माने गए हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम या निर्वेद[2] ये ही स्थायी भाव परिस्थिति-विशेष पाकर शृंगारादि नवरसों का रूप धारण कर लेते हैं । ये विरोधी और अविरोधी दोनों प्रकार की स्थितियों में निरन्तर 'रसावस्था' तक बने रहते हैं ।

संचारीभाव : ये स्थायी भावों में आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं । स्थायी भाव स्थिर रहते हैं और ये आते-जाते रहते हैं । दूसरे रसों में भी ये आते-जाते रहते हैं, इसलिए 'व्यभिचारी भाव' कहलाते हैं । इनकी संख्या बहुत

---

१. **रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।** (सा० दर्पण)
२. **रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।**
जुगुप्साविस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपिच ॥ (सा० दर्पण)

हो सकती है, किन्तु काव्य में शास्त्र-चर्चा की सुविधा के लिए तैंतीस संचारी कहे गए हैं। महाकवि 'देव' ने 'भाव-विलास' में 'छल' नामक चौंतीसवाँ संचारी भाव लिखा तो बहुत-से लोगों ने समझा कि यह कोई बहुत बड़ा अन्वेषण है। पर बात ऐसी नहीं है। छल ही क्या, दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि न जाने कितने भाव हैं जिनकी गणना संचारियों में नहीं है पर उनका विधान समर्थ कवियों की रचनाओं में देखा जाता है। दूसरे, देव ने 'छल' भी स्वतः अपनी कल्पना से नहीं प्राप्त किया। भानुभट्ट की 'रसतरंगिणी' में छल के साथ ही साथ और भी कई संचारियों का उल्लेख है, जिनका इन्हीं तैंतीसों में अन्तर्भाव हो जाता है। छल को इन्होंने 'अवहित्था' में अन्तर्भूत किया है।

काव्य की आत्मा

काव्य की आत्मा की जिज्ञासा से पहले हमें उसके स्वरूप का निर्धारण करना आवश्यक होगा। शब्द और अर्थ ये दोनों काव्य के शरीर माने गए हैं। ये दोनों अभिन्न हैं, एक के बिना दूसरे की सत्ता असम्भव है। शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना दर्शनशास्त्रियों के लिए भले ही संगत हो, पर, आत्मा के बिना शृंगार की आलम्बनस्वरूपा लालित्यलावण्यमयी ललनाओं के कोमल-कान्त-कमनीय कलेवर भी हेय और त्याज्य हैं। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है। इस सम्बन्ध में प्रायः पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं :

सम्प्रदाय	आचार्य
१. अलंकार सम्प्रदाय	दण्डी, भामह आदि
२. वक्रोक्ति ,,	कुन्तल या कुन्तक
३. रीति ,,	वामन
४. ध्वनि ,,	आनन्दवर्द्धन
५. रस ,,	भरत मुनि, विश्वनाथ

अलंकार सम्प्रदाय : 'अलंकरोति इति अलंकारः।' अलंकार की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। पर अलंकार साधन हैं, साध्य नहीं हो सकते। अलंकार काव्य के शोभा विधायक हैं[1] इसे कौन अस्वीकार करेगा, पर इनको काव्य

---

१. (क) काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —दंडी
(ख) अंगी करोति यं काव्यं शब्दार्थवनलं कृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती। (चन्द्रालोक)

की आत्मा मानना संगत नहीं है। अलंकारवादियों ने स्वयं 'रसवत्' और 'प्रेयान्' अलंकारों द्वारा 'रस' और 'भाव' के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अतः अलंकार अंगी नहीं बन सकते। वे चमत्कार विधायक ही हैं अतः चमत्कार-मात्र स्वयं साध्य नहीं हो सकता है। अलंकारवादी रुद्रट ने कहा कि काव्य को रसयुक्त होना चाहिए, चाहे उसके लिए महान् प्रयत्न भी करना पड़े।[1]

वक्रोक्ति सम्प्रदाय[2] **:** इस सम्प्रदाय वाले वक्रोक्ति को विदग्ध लोगों की वाणी कहते हैं जो जनसाधारण की सरल उक्ति से भिन्न होती है। कुन्तक ने जो वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ लिया है, उस अर्थ में वह सभी अलंकारों की माता बन जाती है। 'कोऽलंकारोऽनयाविना'। उन्होंने उसे कवि-कौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता कहा है। इस प्रकार इसका समावेश अलंकार-पद्धति में ही किया जा सकता है। अन्त में कुन्तक ने भंग्यन्तर से रस की ही मुख्यता स्वीकार की है। काव्य में कथा को मुख्यता न देकर रस को ही मुख्यता दी है।[3] उसी के कारण कवियों की वाणी जीवित है।

रीति सम्प्रदाय : वामन ने रीति को काव्य की आत्मा[4] माना है और 'विशिष्ट पद-रचना' को रीति कहा है। यह विशिष्टता गुणों में है और काव्य-शोभा के उत्पन्न करने वाले धर्मों को गुण[5] कहा गया है। गुण और रीति दोनों ही अन्त में साध्य नहीं रहते, वरन् शोभा के साधक बन जाते हैं। वामन ने अलंकारों के कारण काव्य की ग्राहकता[6] बतलाई है। वामन ने रसों को माना है किन्तु दण्डी आदि की भाँति रसवत् अलंकार के अन्तर्गत नहीं, वरन्

---

१. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

—रुद्रट

२. वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्।

—कुन्तक

३. निरन्तर रसोद्धारगर्भसन्दर्भ निर्भराः,
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथा मात्रमाश्रिताः।

—कुन्तक

४. रीतिरात्मा काव्यस्य।

—वामन

५. काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।

—वामन

६. काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्।

—वामन

कान्ति गुण के सम्बन्ध में उनका उल्लेख[1] किया है।

ध्वनि सम्प्रदाय : ध्वनिवादी काव्य की आत्मा 'ध्वनि'[2] मानते हैं। ध्वनि क्या है ? अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना नाम की एक तीसरी शक्ति मानी गई है। व्यञ्जना का अर्थ है : एक विशेष रूप से प्रभाव वाली अंजना (शक्ति) जिसके कारण एक नया अर्थ प्रकाशित होने लगे। लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में यही भेद है कि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा का व्यापार चलता है किन्तु व्यंजना-व्यापार में मुख्यार्थ के बाध होने की आवश्यकता ही नहीं है। वह अर्थ ऊपरी तह पर नहीं होता है परन्तु उसमें झलकता दिखाई देता है। जहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यञ्जना से दब जाता है वही रचना 'ध्वनि' कही जाती है।

इसी ध्वनि के चमत्कार के आधार पर तो काव्य के तीन भेद माने गये : ध्वनिकाव्य (उत्तम), गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम) और चित्रकाव्य (अधम)। यह ध्वनि सम्प्रदाय की उदारता है कि वे ध्वनि-विहीन शब्दों को भी काव्य की श्रेणी में रखते हैं। क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने वाला सौन्दर्य वा रमणीयता का जो लक्षण है वही ध्वनि में भी घटता है।[3] केवल हाथ-पैर, नाक-कान से पूर्ण होना ही सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य उससे ऊपर की चीज है।

वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान।

ध्वनि उसी अवर्णनीय 'औरे कछु' में आती है। ध्वनि को ही प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं। ध्वनि, सौन्दर्योत्पादन और रस-सृष्टि में प्रधानतम साधन है किन्तु रस का स्थान नहीं ले सकती। अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सभी सौन्दर्य के साधन हैं। सौन्दर्य-आस्वादन का अन्तिम फल है आनन्द। वह रस ही तो है। 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।' रस स्वयं ही साध्य है।

रस सम्प्रदाय : ध्वनि और रस सम्प्रदाय में प्रतिद्वन्द्विता अवश्य है किन्तु उनकी प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढ़ी हुई नहीं है कि समन्वय न हो सके। ध्वनि का विभाजन आचार्यों ने तीन प्रकार से किया है—वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि।

इन तीनों भेदों में रस ध्वनि को, जो असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग-ध्वनि के अन्तर्गत है, अधिक महत्व दिया गया है। रस में ध्वनि की तात्कालिक सिद्धि है। उसमें

---

१. दीप्तरसत्वं कान्तिः।

—वामन

२. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति।

—आनन्दवर्द्धन

३. क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैतितदेव रूपं रमणीयतायाः।

व्यंग्यार्थ ध्वनित होने की गति ऐसी तीव्र होती है जैसी कमल-दलों को सूई से भेदने की; यह क्रम नहीं प्रतीत होता कि किस संख्या के पत्र तक सूई ने भेदन किया है। इसी प्रकार पूर्वापर का क्रम दिखाई ही नहीं देता है। ध्वनिकार ने कहा है कि जैसे वसन्त में वृक्ष नये और हरे-भरे दिखाई देते हैं वैसे ही रस का आश्रय ले लेने से पहले से देखे हुए अर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं।

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के सिद्धान्त को मानते हुए भी रस का प्राधान्य स्वीकार किया है। कवि ने भी भारती की वन्दना करते हुए उसे 'आह्लादैकमयी' और 'नवरसरुचिरा' कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो दोष, गुण और अलंकारों की परिभाषा भी रस का ही आश्रय लेकर दी है। जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि गुण हैं, उसी प्रकार काव्य के अंगी रस में हमेशा रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं :

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्ष हेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

(काव्यप्रकाश)

उपर्युक्त विवेचन से अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि अभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं। यह अभिव्यक्ति ध्वनि-क्रिया द्वारा रस की ही होती है। रस अर्थात् आनन्द तो उसका निजी रूप है। वह रमणीयता का परम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थस्वरूपा ध्वनि का भी विश्रामस्थल है। इसलिए वह परमार्थ है, स्वयं प्रकाश्य, चिन्मय, अखण्ड, ब्रह्मानन्द-सहोदर है : 'रसो वै सः'।[1]

रसों की संख्या

रसों की संख्या के विषय में भी आचार्यों में मत-भेद पाया जाता है। भरतमुनि ने प्रधान चार रस माने हैं। शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र। इनसे चार और रसों का उदय होता है। शृङ्गार से हास्य का, वीर से अद्भुत का, बीभत्स से भयंकर का और रौद्र से करुण का। इस प्रकार आठ रस हुए। नाटकों में 'शान्त' को छोड़कर आठ ही रस माने गए हैं, पर काव्य के अन्य अंगों में नवरस का विधान है : शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत। ये नवों रस स्थायी भावों की ही परिणति हैं जो विभावादि के संयोग से रस-रूप में व्यक्त होते हैं। अतः ये नौ स्थायी

---

१. **सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः ।**
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥ (सा० दर्पण)

भाव[1] : रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम ही रसों के मूल हैं। कुछ आचार्यों ने 'वात्सल्य' को दसवाँ रस स्वीकार किया है। प्राचीन आचार्य इस रस के प्रति उदासीन नहीं थे। पर, उन्होंने पुत्रादि के प्रति रति (वात्सल्य) रसावस्था तक आगे चलकर मान ली है। इस रस का स्थायी-भाव 'वत्सल' है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो 'आनन्द' और 'सौख्य' दो और रसों को स्वीकार किया है।

रसराज

रसों में उच्चाउच भाव के ध्यान से श्रेणी-विभाजन तो नहीं किया जा सकता, फिर भी कुछ आचार्यों ने समय-समय पर रस-विशेष को प्राधान्य दिया है। कभी 'करुण'[2] को प्रधानता मिली है, कभी 'वीर' को। पर सर्वसम्मत से शृङ्गार को ही रसराज पदवी से विभूषित किया गया है। किसी रस की श्रेष्ठता उसकी विस्तार-सीमा से आँकी जा सकती है। रति को लेकर जो रस उत्पन्न होता है उसकी विस्तार-सीमा सबसे बड़ी दिखाई देती है। उसके दो पक्ष हो जाते हैं: संयोग और वियोग। यही कारण है कि प्रायः समस्त संचारी भावों का समावेश शृङ्गार रस में हो जाता है। आलस्य, उग्रता, घृणा आदि संयोग शृंगार में नहीं आते किन्तु वियोग में ये भी गृहीत हो जाते हैं। नव रसों में से अन्य किसी भी रस के दो पक्ष नहीं हैं। यही कारण है कि सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की परिस्थितियों, वृत्तियों आदि का समावेश उनमें असम्भव है। दूसरी बात यह है कि शृङ्गार द्वारा साधारणीकरण अन्य रसों की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र में दिखाई देता है। अन्य रसों की अनुभूति में असमर्थ दिखाई देने वाले व्यक्तियों में भी थोड़ी ही सही शृङ्गार की अनुभूति अवश्य होती है। अतः इस दृष्टि से भी शृङ्गार का ग्राहक-क्षेत्र विस्तृत है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी जिस भाव का प्राधान्य दिखाई देता है, वह रति (प्रेम) ही है। हास्य, घृणा ऐसे भाव अन्यत्र दिखाई नहीं देते। भय, शोक आदि जो भाव दिखाई भी देते हैं वे गौण रूप में ही। इसलिए शृङ्गार का रसराजत्व ही साहित्य-क्षेत्र में अंगीकृत है।

रस-विरोध

रसों में परस्पर विरोध भी है, अर्थात् कई रसों का रस-विशेष से मेल नहीं बैठता। जैसे शृङ्गार रस के साथ करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर

---

१. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौभयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपिच ॥ (सा० दर्पण)

२. एको रसः करुण एव निमित्त भेदात् ॥ —भवभूति

और भयानक नहीं आ सकते हैं। अतः चतुर कवि इस प्रकार की शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह कर रस-समष्टि का चयन करते हैं।

भाव

इसके अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भाव-सन्धि और भावशवलता[1] का भी साहित्य में विशेष महत्व है।

भाव के व्यापक अर्थ में तो सभी रस-सामग्री और रस भी आ जाते हैं किंतु भाव का एक विशेष अर्थ में भी प्रयोग होता है। उसमें वह अपूर्ण रस के रूप में आता है। साहित्यदर्पणकार ने भाव की यों व्याख्या की है : जहाँ निर्वेद, मोह, वितर्क आदि संचारी भावों का वर्णन स्थायी भाव के पोषक रूप से न होकर स्वतन्त्र रूप से हो; देव, पुत्र, मित्रादि में रति स्थायी भाव हो; अनुभाव आदि सामग्री से पुष्ट न हो वहाँ इनकी भाव संज्ञा होती है।[2] इसी प्रकार अनुचित रीति से प्रयुक्त रस को 'रसाभास' एवं अनुचित भाव को 'भावाभास' कहते हैं। जैसे, यदि उपनायक-विषयक, मुनिपत्नी-विषयक, तिर्य्यक्योनि-विषयक रति रसाभास कहलायेगी। ऐसे ही विजयी राजा के प्रति विजित की चाटुकारिता 'भावाभास' कहलाएगी, किसी भाव के शान्त हो जाने को 'भावशान्ति' या 'भावप्रशम' कहते हैं। किसी भाव का चमत्कारपूर्ण उदय 'भावोदय' कहलाता है। दो भावों का एक साथ मिल जाना 'भावसन्धि' है। इसी प्रकार अनेक भावों का एकत्र होना 'भावशवलता' है।

करुणादि रसों में आनन्द कैसे ?

कवि या नट अपनी सुन्दर रचना या अभिनय के द्वारा हमारे हृदय की प्रच्छन्न भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। तभी हमें आनन्दानुभव होता है। उत्तररामचरित नाटक में सीता को शोकाकुल देखकर या सोचकर हमारे हृदय की करुणा जाग्रत हो उठती है पर वह वास्तविक शोक नहीं। भावना की सच्ची अनुभूति अनुकार्य को होती है और रसास्वादन सामाजिक करता है। ऐसे ही 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में हरिश्चन्द्र भी श्मशान घाट की कारुणिक दशा, शैव्या का विलाप सुनकर बार-बार रो पड़ते हैं, रूमाल भींग जाता है। पर सामाजिक नाटक देखने से कब विरत होते हैं ? इससे सिद्ध होता है कि इन करुणप्रधान नाटकों तथा काव्यों द्वारा करुण रस का

---

१. रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥ (सा० दर्पण)

२. संचारिणः प्रधानानि देवादि विषया रतिः।
उद्बुद्ध मात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ (सा० दर्पण)

उद्रेक होने पर भी हृदय में एक ऐसी उदात्त भावना जागृत होती है, जो मनुष्य को कुछ ऊँचे उठा देती है और उससे उत्पन्न रस अलौकिक सुख देता है। इसमें सहृदय लोगों का अनुभव ही प्रमाण माना जा सकता है।[1]

गुण

शौर्यादि की भाँति रस के उत्कर्ष हेतु रूप स्थायी धर्मों को गुण कहा गया है।[2] अलंकार भी उत्कर्ष के हेतु हैं किन्तु अस्थायी हैं। दोषों के अभाव मात्र को गुण नहीं कहा जाता। उनका भावात्मक पक्ष भी है। इसीलिए दोष और गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार दोषों का न होना मात्र सौन्दर्य नहीं उसी प्रकार दोषाभावमात्र गुण नहीं। मम्मटाचार्य ने काव्य की परिभाषा में पहले अदोषों और फिर सगुणों कहा है। वाग्भट्ट ने तो स्पष्ट कह दिया है कि दोष न रहते हुए गुणों के बिना शब्द और अर्थ शोभादायक नहीं हो सकते।

यद्यपि भरत, वामनादि आचार्यों ने शब्द और अर्थ के दस-दस गुण माने हैं और भोज ने तो उनकी संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। किन्तु मम्मट, विश्वनाथ आदि प्रसिद्ध आचार्यों ने मुख्य रूप से तीन गुण माने हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इनका सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियों से है।

माधुर्य : जो अन्तःकरण को द्रवितकर (पिघलाकर) उसे प्रसन्न कर दे उसे माधुर्य कहते हैं।[3] टवर्ग को छोड़कर शेष (क से म तक) सभी स्पर्श वर्ण, ह्रस्व 'र' और 'ण' पंचमाक्षरों से युक्त संयुक्ताक्षर, समास रहित या छोटे-छोटे समासों से युक्त—इस प्रकार कोमल और मधुर पदों से युक्त रचना माधुर्यगुण वाली मानी जाती है। संयोग शृंगार, वियोग शृंगार, करुण और शान्त रसों में 'माधुर्य गुण' क्रमशः उत्कर्षवर्द्धक होता है।

ओज : चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण का नाम 'ओज' है।[4] संयुक्ताक्षर, रेफ संयुक्त अक्षर, द्वित्व, टवर्ग, श, ष और दीर्घ समास उद्धत घटना से युक्त

---

१. करुणादावपि रसे जायते यत् परंसुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणंतत्र केवलम्॥ (सा० दर्पण)

२. रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः माधुर्य्यमोजोऽथ प्रसाद इतिते त्रिधा॥ (सा० दर्पण)

३. चित्तद्रवीभावमयोह्लादोमाधुर्यमुच्यते। (सा० दर्पण)

४. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते। (सा० दर्पण)

रचना ओज-व्यंजक होती है। वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से इसका उत्कर्ष होता है।

प्रसाद : 'माधुर्य' और 'ओज' का तो तीन-तीन ही रसों से सम्बन्ध माना गया है पर 'प्रसाद' का सभी रसों से माना जाता है। सूखे ईंधन में अग्नि के प्रकाश अथवा स्वच्छ कपड़े में जल की झलक की भाँति 'प्रसाद' गुण द्वारा चित्त में एक साथ अर्थ का प्रकाश हो जाता है और वह चित्त को व्याप्त कर लेता है। 'प्रसाद' का सम्बन्ध सभी रसों से[1] है। इससे सिद्ध होता है कि अर्थ की स्पष्टता को शैली में कितना महत्त्व दिया गया है।

प्रसादगुण, माधुर्य और ओज दोनों के साथ रह सकता है। विरोध माधुर्य और ओज का है। एक का सम्बन्ध चित्त की कोमल वृत्तियों से और दूसरे का सम्बन्ध कठोर वृत्तियों से है।

रीति

गुणों के अनुकूल पद-रचना को 'रीति'[2] कहते हैं। जिस प्रकार शरीर के अवयवों की सुन्दर संघटना सौन्दर्य के लिए आवश्यक है उसी प्रकार काव्य में अनुकूल पदों का संघटन रस का उत्कर्ष करता है। रस काव्य की आत्मा है और गुण रस के स्थायी धर्म हैं। उन्हीं गुणों के अनुरूप शब्दों की योजना को 'रीति' कहते हैं। रीतियाँ चार हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तथा लाटी या लाटिका।

वैदर्भी : इसमें माधुर्यव्यंजक वर्णों के द्वारा ललित रचना होती है। इसमें समास नहीं होते हैं या बहुत कम होते हैं। विदर्भ (आधुनिक बरार) देश के लोग इसी रीति में रचना करते थे। अतः इसका नाम वैदर्भी पड़ा।

गौड़ी : इसमें ओज गुण के अनुरूप शब्द-विकास होता है। शब्दाडम्बर

---

१. **शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत्सहसैव यः**
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः। (काव्यप्रकाश)

× × ×

चित्तव्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च। (सा० दर्पण)

२. **विशिष्टा पद-रचना रीतिः।**

—वामन

पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्॥

(सा० दर्पण)

अधिक होता है। समास की बहुलता होती है। गौड़ देश के लोग इस 'रीति' को प्रमुखता देते थे।

पांचाली : इस शैली में मधुर और सुकुमार पदों का व्यवहार होता है। इसमें ५-६ पदों के समास हो सकते हैं।

लाटी : वैदर्भी और पांचाली दोनों रीतियों से सम्मिश्रित रीति को लाटी या लाटिका कहते हैं। यह लाट (गुजरात) देश के लोगों को अधिक प्रिय रही है।

मम्मटाचार्य ने इनको क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति के नाम से प्रयोग किया है।

वृत्ति

रीति और वृत्ति के स्वरूप में आचार्यों में मतभेद है। कुछ लोग इनको रीति के भीतर ले लेते हैं। कुछ लोगों ने इसे अलग माना है।

वृत्ति और रीति में साधारणतया तो भेद नहीं किया जाता किन्तु इनमें थोड़ा भेद अवश्य है। वृत्तियों का विभाजन रचना के गुण पर है और रीतियों का वर्गीकरण देश या प्रान्त के आधार पर है। रीतियों का सम्बन्ध यद्यपि गुणों से है तथापि उनमें रचना के बाह्यरूप पर अधिक बल दिया गया है। वृत्तियों में मानसिक पक्ष की ओर भी संकेत रहता है। इस भेद पर सम्यक् रूप से अधिक विवेचन किया गया है। इन वृत्तियों का विशेष सम्बन्ध नाटकों से है। ये नायक आदि के व्यापार-विशेष मानी गई हैं। वृत्तियाँ चार हैं : कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। इनका रसों से विशेष सम्बन्ध है।

१. **कैशिकी :** इसमें शृंगार और हास्य की प्रधानता होती है।
२. **सात्वती :** इसमें वीर, रौद्र और अद्भुत की प्रधानता होती है।
३. **आरभटी :** इसमें भयानक, बीभत्स और रौद्र की प्रधानता होती है।
४. **भारती :** करुण और अद्भुत की प्रधानता होती है।

दोष

आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण में 'अदोषौ'[1] कहा है। अतः शब्द और अर्थ दोनों दोष रहित होने चाहिएँ। साथ ही 'अदोषौ' को लक्षण में प्रथम स्थान दिया है। इससे सिद्ध होता है कि दोष का अभाव उन्हें सर्वाधिक

---

१. **तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनःक्वापि।**
(काव्यप्रकाश)

अपेक्षित है। काव्य की आत्मा 'रस' है। रसानुभूति में जो भी, जिस अंश में भी बाधा पड़ेगी वह 'दोष'[1] माना जायेगा। रस के साथ वाच्यार्थ भी मुख्य होता है और रस तथा वाच्यार्थ इन दोनों के उपयोग में आने वाले शब्द और अर्थ हैं। अतः शब्द, अर्थ, वर्ण तथा पूरी रचना—इनमें कहीं भी रसाभिघात होगा तो वह 'दोष' माना जायेगा। यह रसाभिघात तीन प्रकार से होता है:

१. कुछ ऐसे दोष आ जाते हैं जिनसे रसानुभूति ही नहीं होती।

२. कभी-कभी दोष-विशेष के कारण रसास्वादन में न्यूनता आ जाती है।

३. कभी-कभी रसानुभूति होती तो है, पर बहुत विलम्ब से।

ये दोष पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस इन पाँच स्थलों पर पाए जाते हैं।[2]

मम्मटाचार्य ने काव्यगत दोष सोलह प्रकार के गिनाए हैं और विश्वनाथ ने तेरह। विस्तार-भय से सारे दोषों का क्रमिक वर्णन न करके कुछ विशेष दोषों का ही निचोड़ दिया जा रहा है।

१. रचना का सरल और सुबोध होना अभीष्ट है। और उसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए जो पारिभाषिक होने के कारण उस विषय के कुछ विशेष ज्ञाता ही समझ सकें। अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी रसानुभूति में बाधक होता। ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जो अर्थ-प्रतीति कराने में समर्थ हों।

२. रचना का गौरव अश्लील या ग्रामीण शब्दों द्वारा बिगाड़ना अवाञ्छनीय है।

३. रचना चुस्त होनी चाहिए। उसमें न अधिक भरती के पद हों और न न्यून पद हों—जिससे अर्थ-भावन ही न हो सके।

४. रस के अनुकूल शब्दावली का प्रयोग होना चाहिए। शब्दों को साधारणतया भावानुकूल होना चाहिए। यथा, शृङ्गार रस में मधुर, कोमल शब्दों का

---

१. रसापकर्षका दोषाः।

(सा० दर्पण)

मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्चमुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥

(काव्यप्रकाश)

२. ते पुनः पञ्चधामताः पदे पदांशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत्।

(सा० दर्पण)

प्रयोग उचित है। इसमें श्रुति-कटु शब्द भी गुण हो जाते हैं।

५. रचना को व्याकरण-सम्मत होना चाहिए। किन्तु केवल व्याकरण की शुद्धता को ही रचना का सौष्ठव न समझ लेना चाहिए।

६. वाक्य का अन्वय ठीक होना चाहिए। दूरान्वय के कारण अर्थबोध में बड़ी बाधा पड़ती है। वाक्य के समाप्त हो जाने पर उसके सम्बन्ध की बात फिर न कही जाए या बीच में दूसरी बात न आ जाए।

७. वाक्य में संगति और क्रम होना चाहिए—किसी वस्तु की महत्ता दिखाकर उसकी हीनता न दिखाई जाए।

८. रस या भाव का नाम से उल्लेख करना अनुचित है। छन्दों की लय या गति का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए।

कवि को चाहिए कि इन दोषों से अपनी कविता को बचाये। रस-प्रतीति में बाधक कारणों से कविता को मुक्त रखें तो काव्य सरल हो सकेगा।

चौथा अध्याय

काव्य में जीवन की व्याख्या

काव्य से तात्पर्य क्या है ? इस सम्बन्ध में हम पूव अध्यायों में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। काव्य की अनेक प्रकार से परिभाषा की जाती है। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं: "रसात्मकं वाक्यं काव्यं" अर्थात् रस से भरे वाक्य को काव्य कहते हैं। मम्मट का मत है कि जो रचना दोष रहित और गुण वाली हो तथा जिसमें कहीं-कहीं अलंकार न भी हों वह काव्य कहलाती है।[1]

पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य माना है।

आधुनिक काल के आचार्यों ने काव्य की परिभाषा अपने-अपने ढंग से की है। आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।

प्रेमचन्द जी उपर्युक्त किसी भी परिभाषा से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका कहना था कि "साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है।......उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।" बाबू गुलाबराय का मत है कि "काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की श्रेय को प्रेय रूप देने वाली अभिव्यक्ति है।"

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य की विविध परिभाषाएँ की हैं। अरिस्टाटल का मत है कि काव्य प्रकृति की अनुकृति कला है जिसका उद्देश्य शिक्षा और आनन्द प्रदान करना है।[2]

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्यप्रकाश)

2. Poetry is an art of imitation with the end to teach and delight.

कवि के लिए ग्रीक शब्द 'पाइनस' (Poiens) है जिसका अर्थ है सृष्टि करना । सृष्टि करने वाला कवि कहलाता है । हमारे यहाँ भी 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू' कहलाता है । कवि, स्रष्टा है । उसकी अपनी सृष्टि होती है जो विधाता की सृष्टि के समानान्तर उसके तपोबल से बनती है ।

अंग्रेजी साहित्य के एक प्रसिद्ध समालोचक ड्राइडन का कथन है कि काव्य का उद्देश्य आनन्दप्रद रीति से शिक्षा देना है । दर्शन भी शिक्षाप्रद होता है किंतु यह तर्क के बल पर कार्य करता है जो सबको प्रिय नहीं होता ।[1]

जानसन का मत है कि काव्य वह कला है जो श्रेय और प्रेय का गठबन्धन कराती है । इस गठबन्धन का साधन है कल्पना और विवेक ।[2]

आगे चलकर जानसन कहते हैं कि सभी प्रकार की रचना का उद्देश्य है शिक्षा देना । किन्तु काव्य का उद्देश्य है सरस रीति से श्रेय की प्राप्ति कराना।

काव्य और दर्शन

कालरिज का मत है कि कवि बनने में दर्शनशास्त्र अत्यन्त सहायक होता है । उसका कथन है कि कोई व्यक्ति तब तक शक्ति-सम्पन्न कवि नहीं बन सकता, जब तक वह गहन दार्शनिक नहीं होता । काव्य है क्या ? वह तो मानव-ज्ञान-तरु का परिमल है । मानव के विचारों, मनोवेगों, भावनाओं का सारभूत अंश है ।[3]

पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों मतों से काव्य का अर्थ प्राचीन काल में पद्य और गद्य दोनों समझा जाता था । 'पोएट्री' (Poetry) शब्द की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए हम पूर्व बता आए हैं कि 'पाइनस' का अर्थ है बनाना अथवा कल्पना को सत्य कर दिखाना । वह रचना चाहे पद्य में हो अथवा गद्य में ।

---

1. To instruct delightfully is the general end of all poetry. Philosophy instructs, but it performs its work by precept, which is not delightful.

2. Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by calling imagination to the help of reason.

—S. Johnson

3. No man was ever yet a great poet, without being at the same time a profound philosopher. For Poetry is the blossom and the fragrance of all human knowledge, human thoughts, human passions, emotions, language.

—S. T. Coleridge

हमारे आचार्य तो नाटक को दृश्य काव्य कहते ही हैं। यद्यपि दोनों मतों के अनुसार कविता, नाटक, उपन्यास आदि रचनाएँ काव्य कहलाती हैं किन्तु नाटक और उपन्यास अब स्वतन्त्र रूप से अपनी सत्ता के अधिकारी बन गए हैं और आज काव्य का अर्थ प्रायः पद्यबद्ध रचना माना जाता है। नाटक, उपन्यास तथा अन्य कथा-साहित्य का विवेचन पृथक्-पृथक् अध्यायों में किया जाएगा। यहाँ केवल कविता पर ही प्रकाश डालना है।

काव्य तथा अन्य कलाएँ

पाश्चात्य आलोचक एडिसन का मत है कि यद्यपि काव्य तथा अन्य सभी ललित कलाएँ हमारी कल्पना-शक्ति पर प्रभाव डालती हैं तथापि काव्यकला की यह विशेषता है कि अन्य कलाओं की अपेक्षा इसका प्रभाव अधिक गहरा पड़ता है। कविता न केवल कवि के मस्तिष्क में कल्पना-जगत् को ही खड़ा करती है अपितु श्रोता का मस्तिष्क भी कवि-मस्तिष्क के साथ संयुक्त कर देती है।

नाट्यकार और कवि में आजकल अन्तर माना जाता है। नाट्यकार की सफलता पात्रों और घटनाओं के चयन, पात्रों द्वारा होने वाली कार्यावली के पूर्वापर प्रसंगों के औचित्य की कसौटी पर कसी जाती है। इस सम्बन्ध में वह नाट्यकला के उन सिद्धान्तों से बँधकर चलता है जो कथानक और अभिनय के विषय में निर्धारित किए जा चुके हैं। किन्तु कवि इन बन्धनों से मुक्त है। उसके लिए न सभी प्रकार के चरित्र आवश्यक हैं न हर प्रकार की घटना।

जीवन-व्याख्या की पद्धति

कवि प्रकृति के विशाल प्रांगण और समाज की विविध घटनाओं में से उन्हीं को काव्य का आधार बनाता है जिन पर वह अपनी उदात्त कल्पना की भित्ति बनाकर मानव-जीवन का दिव्य प्रासाद निर्मित कर सकता है। उसके दृश्य सप्राण और सक्रिय, चरित्र-विशिष्ट और उसकी घटनाएँ सम्भावित होती हैं। ये ही काव्य-प्रासाद के उपकरण हैं। इन्हीं उपकरणों के बल पर कवि की लेखनी से जीवन का सौन्दर्य निखरता है। विशिष्ट घटनाओं के बल पर कवि मानव-जीवन के सत्य की विशद व्याख्या करता है। जीवन-व्याख्याता के नाते वह हमसे परिचित व्यक्तियों के ऐकान्तिक कार्यों की व्याख्या करता है। व्याख्या के समय वह मानव-जीवन के सामान्य सिद्धान्तों के साथ व्यक्तिगत कार्यों की तुलना करता है।

व्यक्तिगत दैनिक जीवन की व्याख्या करते समय वह उस वर्ग या समाज का आदर्श सम्मुख रखता है जिससे व्यक्ति बँधा है। समाजगत आदर्शों को स्पष्ट

करने के लिए वह उन विशेषताओं का अनुसंधान करता है जिनसे एक समाज दूसरे से पृथक् माना जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की जीवन-घटनाओं के आधार पर वह विशिष्ट समाज का वर्णन करता है, और विशिष्ट समाज के वर्णन के माध्यम से वह मानव-जीवन की व्याख्या करता है। जीवन-व्याख्या के नाते वह मानवता के केन्द्र में स्थित प्रमुख मनोवेगों को अभिव्यक्त करता है। मनोवेगों की अभिव्यक्ति में वह ऐसी तुलनात्मक दृष्टि रखता है जिससे प्रेम और घृणा, सत्य और मिथ्या, विलास और संयम, क्षमा और क्रोध, आदि का वास्तविक रूप निखर आये। इसके लिए वह विविध मनोवेगों के अविरोधी एवं विरोधी गुणों का प्रभावशाली प्रदर्शन करता है। हमारी सत्प्रवृत्तियों और असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष दिखलाता है। मानव-जीवन की व्याख्या तब तक अपूर्ण है जब तक चतुर्दिक व्याप्त परिस्थितियों और सामाजिक विशेषताओं के अतिरिक्त कवि व्यक्ति के उन अन्तर्निहित गुणों को अभिव्यक्त नहीं करता जो उसे जन्मजात प्राप्त हैं। व्यक्ति बाह्य प्रभावों से प्रभावित होता हुआ भी आभ्यन्तरिक गुणों से संचालित होता है। इन्हीं गुणों के बल पर वह समाज में रहता हुआ भी समाज से पृथक् अपनी व्यक्तिगत सत्ता रखता है। कवि का कार्य है उसी निगूढ़ सत्ता को मूर्तिमती बनाना। असाधारण शक्ति की वह निगूढ़ सत्ता उसके क्रिया-कलापों में फूट पड़ती है। कवि का कार्य है उन्हीं कार्य-कलापों की समुचित योजना करके उनमें तारतम्य स्थापित करना। ऐसे अतिमानव या महामानव के क्रिया-कलाप भौतिकवाद, बुद्धिवाद आदि से परे अध्यात्मवाद में निमीलित हो जाते हैं। कवि मानव-जीवन की व्याख्या करते समय जीवन-तथ्यों के साथ इसी अध्यात्मवाद का सामंजस्य करता चलता है :

विषमता की पीड़ा से व्यस्त, हो रहा स्पन्दित विश्व महान्;
यही दुःख-सुख विकास का सत्य, यही भूमा का मधुमय दान।

मानव-जीवन की सबसे बड़ी समस्या दुःखानुभूति है।

मानव-जीवन में नियति का स्थान

जीवन की व्याख्या करते समय कवि इस विषम समस्या की उपेक्षा किस प्रकार कर सकता है? समाज के इस रोग का निदान और उपचार मानव-जीवन की व्याख्या में प्रमुख स्थान पाता है। अतः कवि प्रायः घटनाओं और चरित्रों के आधार पर इनका विश्लेषण करता है। घटनाओं और चरित्रों में आपदाओं का आगमन दो प्रकार से होता है—प्रकृति के प्रकोप के कारण अथवा अदृष्ट या नियति के भौंहों में बल पड़ने से। कभी दोनों बाधाएँ पृथक्-पृथक् रूप में

दिखाई पड़ती हैं, कभी दोनों मिलकर एक बन जाती हैं। जीवन-व्याख्याता कवि इन दोनों प्रकार की बाधाओं का निरूपण करता है; उनके कारणों का अनुसंधान करता है; उनके दुष्परिणामों का विवेचन करता है; उनसे मुक्ति का साधन ढूंढ़ निकालता है। कवि की प्रतिभा आपत्ति के गुप्त कारणों को अंधकार से प्रकाश में लाती है। उनके निवारण करने के साधनों का निर्देश करती है। इस प्रकार जीवन-व्याख्या करने में काव्य और कवि को सफलता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए कामायनी का श्रद्धा-सर्ग लीजिए। मनु सविषाद कहते हैं :

किन्तु जीवन कितना निरुपाय ?
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।

इतने ही में श्रद्धा आती है। उन्हें आश्वासन देकर कर्म द्वारा आपदा को मिटाने का सन्देश देती हुई कहती है :

कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
"अरे तुम इतने हुए अधीर !
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।"

जीवन की व्याख्या करते समय प्राचीनता और नवीनता का संबंध बताती हुई श्रद्धा कहती है :

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्त्तन में टेक।

जीवन में दुःख-सुख आते-जाते रहते हैं, किन्तु कालचक्र अपनी मस्तानी गति से चलता जाता है। वह न किसी के रोके रुकता है और न किसी के हाथ का क्रीड़ा-कन्दुक बनता है। सृष्टि अपने क्रम को सदा चलाती जाती है :

युगों की चट्टानों पर सृष्टि,
डाल पद-चिह्न चली गम्भीर;
देव, गन्धर्व, असुर की पंक्ति,
अनुसरण करती उसे अधीर।

सृष्टि के इस गूढ़ रहस्य को समझाने के लिए भौतिकवाद से परे अध्यात्म-वाद का सहारा कवि को लेना पड़ता है। इस प्रकार जीवन की व्याख्या का

पूर्णतया विवेचन करने के लिए हिन्दी के सूफी एवं वैष्णव भक्त कवियों ने कथानकों का सहारा लेकर उस सत्ता का आभास कराया जिसे उपनिषदों ने कहा कि वह तो वाणी, मन और इन्द्रियों से परे है, जहाँ से मन के साथ वाणी लौट आती है।[1]

कबीर, सूर और तुलसी ने उस अनिर्वचनीय सत्ता को काव्य में बाँध डाला। भक्तों को उसका दर्शन कराया। और इस प्रकार मानव-जीवन के रहस्यों का उद्घाटन करने में सफलता प्राप्त की।

काव्य में प्रेम की व्याख्या

मानव-जीवन में एक और महत्वमय प्रश्न है योनि-सम्बन्धी आकर्षण का। जीवन के वसन्त-काल में यह आकर्षण अत्यन्त शक्तिशाली बन जाता है। इसी के बल पर अनेक प्रेमी-प्रेमिका काव्य, नाटक, उपन्यास और कथा-साहित्य के पात्र बन जाते हैं। जीवन को सरस बनाने के लिए कवियों और नाट्यकारों ने इस प्रेमतत्व की विशद व्याख्या की है। यदि यह आकर्षण विधाता की सृष्टि का मूलाधार है तो कवि की सृजन-शक्ति का भी यह प्रधान उपकरण बनता है। यह कहना असंगत न होगा कि इस तत्व के विश्लेषण के अभाव में मानव-जीवन की व्याख्या अधूरी रह जाती है। काव्य ही को यह अधिकार है कि वह प्रेम रस के निगूढ़ तत्व की व्याख्या निर्भीकता के साथ करे। यह काव्यकला ही मूल शक्ति 'प्रमकला' की लीला दिखाकर उसका दिव्य सन्देश सुना सकती है:

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेमकला,
उसका सन्देश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला।

इस प्रेमकला का दिव्यतम रूप रखने के लिए वाल्मीकि रामायण से कामायनी तक, शकुन्तला से स्कन्दगुप्त तक अनेक काव्यों की रचना हुई किन्तु अभी तक इस महासागर में न जाने कितने रत्न छिपे पड़े हैं, जिनके अन्वेषण का श्रेय भविष्य के कविगण को मिलेगा।

प्रेम की इस दिव्य शक्ति का यदि दुरुपयोग किया जाए तो संसार में न जाने कितना संघर्ष खड़ा हो जाए। इसकी विकृति ने संसार में अनेक युद्धों को जन्म दिया। इसी ने देवता और मानव को दानव-रूप में परिवर्तित कर दिया।

सौन्दर्य-वर्णन

प्रेमकला की मूल शक्ति की व्याख्या करने में सौन्दर्य की अत्यन्त आव-

---

१. यतः वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

श्यकता पड़ती है। सफल कवि बाह्य सौन्दर्य के वर्णन तक ही अपनी दृष्टि सीमित नहीं रखता, वह सृष्टि के अन्तरतम में पैठकर सौन्दर्य का दिव्य रूप निकाल लाता है। कवि प्रसाद कहते हैं :

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

प्रेमकला के वर्णन में आकर्षिका शक्ति नारी के जीवन की व्याख्या विविध प्रकार से की गई है। काव्य में इसका दिव्यतम रूप भी मिलता है और निकृष्टतम रूप भी। इसमें वासना की मूर्ति ताड़का है तो पातिव्रत धर्मरूपिणी सीता भी है। 'अजातशत्रु' नाटक में एक ओर चंचला नारी श्यामा है तो दूसरी ओर देवी-स्वरूपा मल्लिका भी। जिस काव्य में नारी-जीवन की व्याख्या जितनी ही सत्य और स्वाभाविक मिलती है वह काव्य उतना ही उत्कृष्ट माना जाता है। जीवन-संघर्षों में परिपालित और आपदाओं की अग्नि में तापित नारी-जीवन की कहानी मैथिलीशरण जी के शब्दों में :

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आंचल में है दूध और आँखों में पानी।

अथवा प्रसाद के शब्दों में :

यह आज समझ तो पाई हूँ,
मैं दुर्बलता में नारी हूँ।
अवयव की सुन्दर कोमलता,
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।

इसी अग्नि में तापित नारी कालिदास के हाथों शकुन्तला बनती है और ऐसे पुत्ररत्न को जन्म देती है जिसके नाम पर—कुछ विद्वानों के मत से—आर्यावर्त्त देश भारत कहलाता है। इस प्रकार नारी-जीवन धन्य बनता है। क्षणिक दुर्बलता का अभिशाप सहने तथा तपस्या की आँच में तपने का परिणाम होता है जीवन की पूर्णता।

काव्य में प्रकृति की व्याख्या

अपने जीवन में मानव सबसे अधिक सम्पर्क प्रकृति से स्थापित करता है। कभी शिशिर के निर्मल आकाश में चन्द्र का प्रकाश और कभी मेघाच्छन्न गगन-मंडल में विद्युत् की चमक। नाना विचित्रताओं से भरी रहस्यमयी प्रकृति का हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। कवि प्रकृति-प्रांगण में होने वाली सुख-दुःखदायिनी लीलाओं की आँख-मिचौनी देख-देखकर सिहर उठता

है। वैदिक ऋषि सविता, ऊषा आदि के दर्शन से विस्मय-विभोर हो काव्य की वाणी में बोलने लगता है। वह शुद्ध दार्शनिक से कवि दार्शनिक बन जाता है। व्यास और वाल्मीकि, सूर और तुलसी, प्रसाद और पन्त इसके वर्णन में कवि से दार्शनिक बन जाते हैं। प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन मानव-जीवन की व्याख्या में कितना सहायक बनता आ रहा है, यह साहित्य के विद्यार्थियों से छिपा नहीं।

किन्तु प्रकृति-वर्णन में काल-क्रमानुसार परिवर्तन होता रहा है। जीवन-व्याख्या में किसी दिन प्रकृति उदाहरण के रूप में आती थी। जैसे, तुलसी वर्षा और शरद में प्राकृतिक सौन्दर्य-वर्णन में कहते हैं :

दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥
बर्षहि जलद मेघ नियराए। यथा नवहिं बुध विद्या पाए॥

पर आज कवि सविता-सोम, मरुत-वरुण, ग्रह-नक्षत्र, जलद-दामिनि को देखकर प्रश्न पूछता है :

विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान ?
किसका था भ्रू-भंग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विकल रहे,
अरे ! प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे !
महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह-नक्षत्र और विद्युतकण
किसका करते हैं संधान !

◇ ◇ ◇

तृण वीरुध-लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?

आगे चलकर कवि का हृदय नव प्रभात का उत्साह देखकर जीवन की पुकार मचाता हुआ कहता है :

जीवन ! जीवन ! की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह,

किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह !

प्रकृति के विविध रूपों को देखकर कवि को जीवन-अनुभूति प्राप्त होती है । वह कह उठता है :

शीतल झरनों की धारायें
बिखरातीं जीवन-अनुभूति !

◇ ◇ ◇

उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुसकान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल-गान,

कहा जाता है कि कवि की चैतन्य शक्ति से जड़ चेतन और चेतन ज्ञानी बन जाता है । पारस पत्थर के समान कवि का व्यक्तित्व पृथ्वी और आकाश में उपलब्ध समस्त लता, वृक्ष, नदी, तरंग, सूर्य, तारा आदि पदार्थों को लोहा से सोना बना देता है । वे पदार्थ सजीव और चेतन बनकर मुखरित हो उठते हैं । कवि उनसे अपनी प्रगाढ़ मैत्री स्थापित करता है, अतः वे उसे अपने हृदय की प्रतिध्वनि सुनाते हैं । जो कवि सम्पूर्ण सृष्टि के साथ जितनी ही अधिक आत्मीयता की भावना स्थापित कर पाता है उसकी कविता उतनी ही अधिक आध्यात्मिकता के सौरभ से सुरभित हो उठती है । जिस काव्य में यह सौरभ जितना अधिक हृदयग्राही मात्रा में रहता है वह काव्य उतना ही अधिक स्थायी रहता है ।

छायावादी कवियों ने भी प्रकृति के सहारे जीवन की व्याख्या की है । उन्होंने भी प्रकृति के साथ पारिवारिक सम्बन्ध जोड़ा है । उन्हें भी अरुणिमा और सन्ध्या में, पशु-पक्षी और खग-मृग में, लता-द्रुम और छाया-प्रकाश में मानव-जीवन का काव्य लिखा मिलता है । उन्हें कोकिला के स्वर में जीवन-संगीत और कुसुम-सौन्दर्य में जीवन-सौन्दर्य झूमता हुआ दिखाई पड़ता है । कविवर पन्त प्रकृति के साथ सान्निध्य स्थापित करने वाले श्रमजीवी के जीवन पर इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :

बाँसों का झुरमुट, सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ, टी, वी, टी, टुट् टुट्
वे ढाल-ढाल कर उर अपने, हैं बरसा रही मधुर सपने
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर, गा गीत स्नेह-वेदना सने
ये नाप रहे निज घर का मग, कुछ श्रमजीवी डगमग-डग

भारी है जीवन भारी पग !!
आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग, सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण-सुभग
औ गन्ध-पवन झल मन्द व्यजन, भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली है जिनकी रग-रग !

(युगान्त)

जीवन के साथ प्राकृतिक पदार्थों का तादात्म्य होने से हृदय में जिस सुख की अनुभूति होती है उसकी प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि "प्रकृति कुछ काल के लिए सभ्यता के कृत्रिम बन्धनों से मुक्तकर, हृदय को शुद्ध भूमि पर ले जाती है और व्यावहारिक जीवन के स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से हटाकर शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है।" जो व्यक्ति प्रकृति के साथ यह रागात्मक सम्बन्ध जितना अधिक प्रगाढ़ बना सकता है वह उतना ही अधिक दुःखमुक्त होकर सुख का अनुभव करता है।

हमारे जीवन में दुःख के अनेक कारणों में एक कारण यह भी है कि हम अपने स्वाभाविक जीवन से दूर हटते गए हैं। ज्यों ही अपने स्वाभाविक जीवन से हमारा सम्बन्ध स्थापित होने लगता है हमारे दुःख की शृङ्खलाएँ टूटने लगती हैं और हम सुख के साम्राज्य में पहुँच जाते हैं। शुक्ल जी लिखते हैं : "हम पेड़-पौधे और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास में रखकर एक घेरे में बन्द करते हैं, और कभी मन बहलाव को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों में सुख से सोते हैं। गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और चूहे कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं।" आगे चलकर वे फिर लिखते हैं :

"बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की पर्वा न करके हरी-भरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उनके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढती हुई आती है और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो ?"

प्रकृति का प्रभाव हमारे जीवन पर अवश्य ही पड़ता है, इसमें किसको सन्देह हो सकता है ? कवि तो प्रकृति का पुजारी होता है। उसकी अर्चना और वन्दना करते हुए वह तन्मय हो जाता है। कवि संसारी हो अथवा वीतराग, वह तो प्रकृति की विभूति पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। उस मुग्धता और तन्मयता की स्थिति में कवि को जो रस मिलता है उसे कई आलोचक प्रकृति-

रस नाम से पुकारते हैं। कई आलोचक प्रकृति में जड़ता का आरोप करके इसे रस न मानकर भाव ही मानते हैं किन्तु आज के आलोचकों का मत इससे भिन्न है। उनका मत है कि "प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलम्बनत्व से उत्पन्न मनःस्थिति रसमय ही होती है। यह इसकी बहुत बड़ी विशेषता है।"

अंग्रेज कवियों में वर्ड्सवर्थ ने भी मानव और प्रकृति में आत्मिक साम्य स्वीकार करते हुए लिखा है: "प्रकृति ने अपने सुन्दर उपकरणों से उस मानवात्मा को, जो सबमें व्याप्त है, सम्बन्धित कर रखा है, किन्तु मानव ने स्वाभाविक मानव को प्रकृति से कितनी दूर फेंक दिया है, यह देखकर हमें दुःख होता है।"[1]

सुमित्रानन्दन पन्त तो प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ने के लिए प्रकृति को पुरुष का विराट् शरीर मानते हैं:

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास
तरल जलनिधि में हरित-विलास
शान्त अम्बर में नील विकास।

वास्तविक मानव-जीवन को ढूँढ़ते हुए कवि प्रकृति के सम्पर्क में पहुँचकर कहता है:

"जिस सरल, स्वाभाविक एवं अनिन्द्य आनन्द की अनुभूति शुद्ध मानस वाले व्यक्ति किया करते हैं वही जीवन है। इस प्रकार का जीवन प्रकृति के प्रांगण में उन्मुक्त विहार करने से ही उपलब्ध होता है। प्रकृति-वर्णन करने वाली जिस कविता में अनिन्द्य आनन्द प्रदान करने की शक्ति होती है वही जीवन को दुःखमुक्त बनाती और सुख की प्राप्ति कराती है। प्रकृति-वर्णन द्वारा कवि पाठक को जीवन के उन सुखतम क्षणों तक पहुँचा देता है जहाँ विचार उदात्त बन जाते हैं।"[2]

---

1. To her fair works did Nature link
   The human soul that through me ran;
   And much it grieved my heart to think
   What man has made of man.

   —Wordsworth

2. And I have felt
   A Presence that disturbs me with the joy
   of elevated thoughts; a sense sublime

काव्य में सामाजिक जीवन की व्याख्या

काव्य कवि की मानसिक शक्तियों के विकास की ही व्याख्या तक सीमित नहीं होता, वह इससे भी आगे बढ़ता है। जिस प्रकार वह अपने चतुर्दिक् फैली प्रकृति में अपने मनोवेगों का स्पन्दन देखता है उसी प्रकार अपने चारों ओर गिरे समाज में वह अपने जीवन के दुःख-सुख का इतिहास पढ़ता है। कवि चिन्तन करते-करते ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उसका जीवन समाज के जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है। समाज में और उसमें अंशी-अंश भाव उत्पन्न हो जाता है। अपने को सुखी बनाने के लिए उत्सुक उसका मन समाज को सुखी बनाने में अपना सुख देखता है। समाज को सुखी बनाने के लिए वह आगत आपदाओं के परिहार और अनागत आपदाओं के अवरोध-निरोध का मार्ग ढूँढ़ता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के विक्टोरिया-युगीन कवि, काव्य को समाज-सुधार के लिए अर्पण कर देने वालों में प्रमुख हैं। युग के राष्ट्र-कवि टेनीसन ने जीवन के प्रत्येक अंग को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उन्हें दोषपूर्ण पाया। उन दोषों की छान-बीन करके उन्हें समाज के सम्मुख रखा। उन्होंने पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, राजनैतिक जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया। टेनीसन संक्रमण-काल के कवि हैं। उनके समय में युग करवट बदल रहा था। चारों ओर उथल-पुथल थी। नारी-समाज में बड़ी विशृङ्खलता उत्पन्न हो गई थी। समाज का पारिवारिक जीवन दुःखमय होने लगा था। उस समय टेनीसन पुरुष और स्त्री दोनों को समझाते हुए जीवन में शान्ति और अनुशासन की कामना करते हैं। पारिवारिक जीवन ही सामाजिक जीवन की कसौटी है। अतः उनका निवेदन है कि "पुरुष अपने शीर्ष-बल से, नारी अपने हृदबल से नित समाज का उन्नयन करते चलें। नारी पुरुषों की संगिनी बनती हुई, उनके आदेशों का पालन करें, अन्यथा कल्याण नहीं।"[1]

---

of something far more deeply interfused
whose dwelling is the light of setting Suns,
And the round ocean and the living air,
And the blue sky, and in the mind of man.
A motion and a spirit, that impels
All thinking things, all objects of all thought,
And rolls through all things.

1. Man with the head and woman with the heart,
Man to command & woman to obey,
All else confusion. —Tennyson.

राजनैतिक जीवन में भी कम हलचल न थी। साम्राज्य-विस्तार की लालसा लिए हुए ब्रिटेन चतुर्दिक उपनिवेशों की स्थापना में व्यस्त है। इस कारण प्रशासन में व्यतिक्रम था, अशान्ति थी। इंग्लैण्ड तथा उपनिवेश दोनों में शांति और न्याय के लिए टेनीसन जनता की आवाज़ का प्रतिनिधित्व करते हुए कहते हैं : "अब हमें शान्तिपूर्ण शासन की आवश्यकता है, हमें न्याय की आवश्यकता है, हमें ब्रिटेन की महान् परम्परा को कायम रखना है। सबको समान स्वतन्त्रता देना है।"[1] उनके सभी उदात्त विचारों का बड़ा स्वागत किया। रानी विक्टोरिया द्वारा उनका अक्षरशः पालन भी हुआ। राष्ट्र-निर्माण में सहायक होने के नाते उन्हें राष्ट्रकवि पद से भूषित किया गया। हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी की रचनाओं में भी ये प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। सामाजिक नियन्त्रण, स्वतन्त्रता, सुख-समृद्धि की भावनाओं से 'भारत-भारती' आदि ग्रन्थ ओतप्रोत हैं।

रॉबर्ट ब्राउनिंग ने जीवन के आचारपरक सम्बन्धों पर विशेष दृष्टि डाली। शुद्ध विचार, शुद्ध व्यवहार तथा सत्य, प्रेम और श्रद्धा आदि भावों को अपनाने पर बल दिया। उन्होंने वैवाहिक जीवन के प्रति घोर निराशा प्रकट की और इसे केवल शारीरिक सम्बन्ध न समझ हृदय का सम्बन्ध बनाने की माँग की।[2] मैथ्यू आर्नाल्ड तक आते-आते : "कविता स्वयं जीवन और समाज की व्याख्या हो गई।"[3] इस प्रकार काव्य और जीवन का निकतटम सम्बन्ध हमें इन कवियों की रचनाओं में मिलता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या कवि समाजशास्त्री है जो वह समाज का इस प्रकार अध्ययन करता है? क्या वह उपदेशक है जो हमें नीति की शिक्षा देता है? क्या वह राजनैतिक सुधारक है जो राजनीति के मार्ग का हमें पथ-प्रदर्शन करता है? कवि अकेले इनमें से कोई नहीं। इन सबसे परे उसका एक महान् व्यक्तित्व है। जिसमें ये गुण पृथक्-पृथक् उसके अंग होकर आते हैं। कवि इन सबका समवेत सुमिश्रित रूप है।

वह किसी एक काल का नहीं, एक देश का नहीं। सनातन सत्य की अभि-

---

1. A land of settled government,
   A land of just and old renown,
   Whose freedom broadens slowly down,
   From precedent to precedent. —Tennyson.
2. Matrimony is the union of hearts. —Robert Browning.
3. Poetry is criticism of life. —Matthew Arnold.

व्यक्ति करना उसका लक्ष्य होता है, जिससे वह सब काल और सब देश का हो जाता है। पर उस सत्य की प्रेरणा उसे अपने समसामयिक समाज से ही मिलती है और अपनी प्रतिभा द्वारा वह उसे स्थायी रूप देता है। यद्यपि टेनीसन ने अपने युग को लक्ष्य करते हुए कहा था कि नारी को पुरुष की आज्ञा-कारिणी बनकर सामाजिक शान्ति में योग देना चाहिए, अन्यथा कल्याण न होगा, पर वह सत्य आज भी लागू है, और आगे लागू रहेगा।

रामचरितमानस की चिरन्तन सत्यमयी पंक्तियाँ क्या कभी पुरानी पड़ सकती हैं? उन्हें संसार वर्तमान सत्य के रूप में तो देखता आया ही है, साथ-साथ आशा भी करता आया है कि इसमें बताई हुई सब बातें आगे भी सत्य होंगी। सूर के ललित भाव क्या कभी फीके पड़ सके? उनकी आभा नित्य नयी होकर निखरती चली जा रही है।

"कवि-सत्य सनातन सत्य होता है। कवि द्वारा चित्रित सौन्दर्य अनश्वर होता है, वह कभी मलिन नहीं होता। जीवन के इसी सत्य और इसी सौंदर्य की व्याख्या करना कवि का धर्म होता है।"[1] "बाह्य भित्तियों को चीरती हुई कवि की पैनी दृष्टि वस्तुओं के अन्तस्तल में जा पहुँचती है। वहाँ वह वास्तविक तत्व को ढूँढती है। उस तथ्य को देखना और दूसरों को दिखाना अपना कर्तव्य समझती है जिसे साधारण आँखें देख नहीं सकतीं।"[2]

जहाँ तक तथ्य के स्वयं देखने का प्रश्न है कवि का कर्तव्य अपने लिए है और वहाँ तक वह योगी है, एकान्त साधक है। जहाँ ही उसकी धारणा दूसरों को दिखाने के प्रयत्न की ओर प्रवृत्त होती है, कवि समाज का प्राणी बन जाता है और फिर किसी दशा में भी उसे समाज से छुटकारा नहीं मिल सकता। क्योंकि दिखाने के लिए अभीष्ट वस्तु में समाज के साथ अनुरूपता होनी चाहिए। अन्यथा समाज उसे अपरिचित और अविश्वसनीय करार देकर तिरस्कृत कर देगा। इस कारण कवि को अपने ध्येय में सफलता न मिल सकेगी। कवि यह भली प्रकार समझता है, अतः समाज में उठने वाली अधिकाधिक विचार-लहरियों को वह प्रश्रय देने का प्रयत्न करता है। इससे वह एकान्त जीवन से हटकर पूर्णतया

---

1. Poetry is a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty. —G. H. Lewes.

2. Poets are to see and show things as in their essence they really are, and not as they exist for the careless, who do not look beyond the outside. —Joubert.

संसार के निकट सम्पर्क में आता है। "जग-जीवन में बँधने के बाद जब इसे वह अत्यन्त निकट से देखता है, तब उसकी वाणी में घोर गर्जना होती है, उसके विचार कानून बनकर फूट पड़ते हैं, उसके शब्दों में विश्वमोहिनी ध्वनि निकलती है।"[1] जो संसार को अपनी उँगलियों पर नचा डालती है।

---

1. He is caught up into the life of this universe, his speech is thunder, his thought is law, and his words are universally intelligible. —Emerson.

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी कविता का वर्गीकरण

संस्कृत आचार्यों के मतानुसार हम श्रव्य और दृश्य काव्यों के भेद लिख आये हैं, किन्तु शताब्दियों से नित्य नये प्रयोग करने वाली प्रगतिशील कविता का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि संस्कृत आचार्यों के भेदों-उपभेदों की माप-सीमा वहाँ तक पहुँच नहीं पाती । इसलिए हिन्दी कविताओं के वर्गीकरण के लिये नये-नये माप बनाने पड़े हैं। केवल हिन्दी ही में नहीं बँगला आदि भारतीय भाषाओं में भी काव्य के विभिन्न रूपों पर बदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप प्रकाश डाला जा रहा है। काव्यालोक (बँगला) के रचयिता दास गुप्त ने बंगला कविता का रसबोध और रम्यबोध की दृष्टि से 'द्रुति काव्य' और 'दीप्ति काव्य' नाम से एक नया वर्गीकरण किया है। "भावसिक्त चित्त में आत्मानन्द का प्रकाश रसबोध है और बुद्धिदीप्त चित्त में आत्मानन्द का प्रकाश रम्यबोध है।"

द्रुति काव्य के तीन भेद हैं : (१) रसोक्ति (२) भावोक्ति (३) स्वाभावोक्ति

दीप्ति काव्य के दो भेद हैं : (१) गौरवोक्ति (२) वक्रोक्ति

द्रुति काव्य के भेदों में स्वाभावोक्ति की विशेषता यह है कि प्रकृति और प्राणी-सम्बन्धी कविताएँ इसके अन्तर्गत मानी जाती हैं।

वक्रोक्ति के अन्तर्गत अर्थ वक्रोक्ति और अलंकार वक्रोक्ति दोनों सम्मिलित हैं।

स्वरूप-भेद के अनुसार वर्गीकरण

काव्य-स्वरूप की दृष्टि से काव्य के चार भेद हैं : (१) रस काव्य (२) बोध काव्य (३) नीति काव्य और (४) काव्याभास ।

१. रस काव्य : जिस काव्य में कोई स्थायी भाव शब्द एवं अर्थ का बल प्राप्त करके रस में परिणत हो जाता है वह रस काव्य तथा जहाँ भाव उद्बुद्ध होकर ही रह जाता है, इसकी अवस्था तक नहीं पहुँच पाता वह भाव काव्य होता है।

२. बोध काव्य : जिस काव्य में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रौढ़ता

दिखाई पड़े अर्थात् विचार-प्रधान होने से जो काव्य किसी गूढ़ विषय का महत्व दिखाए उसे बोध काव्य कहते हैं। इसे काव्य इसलिए कहते हैं कि उसमें गूढ़ विषय को रससिक्त एवं सौन्दर्य-मंडित करने का प्रयास रहता है।

३. **नीति काव्य** : जिस काव्य में उपदेश की प्रधानता हो उसे नीति काव्य कहते हैं। काव्य कहने का प्रयोजन यह है कि शिक्षाप्रद उपदेशों को पद्यबद्ध बनाकर सुरुचिपूर्ण किया जाता है। यही रोचकता का गुण उसे काव्य कोटि तक पहुँचाता है।

यदि किसी नीति काव्य में सरलता आ जाए तो वह दूसरी कोटि अर्थात् बोध काव्य तक पहुँच जाता है।

४. **काव्याभास** : जिस कविता में रस की तो बात क्या किसी भाव या विचार का भी दर्शन न हो, नीति या शिक्षा भी दिखाई न पड़े, जिसका श्रोता के हृदय पर कोई प्रभाव भी न पड़े वह काव्याभास कहलाती है। उसे कविता क्यों कहते हैं इसका उत्तर एकमात्र यही है कि ऐसी कविता लिखने अथवा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करने वाले सज्जन इसे कविता नाम से पुकारते हैं।

◇ ◇ ◇

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्यकर्ता के दो वर्ग किए हैं। पहले वर्ग में वे कवि हैं, "जिनके सुख-दुख, जिनकी कल्पना और जिनके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से संसार के सभी मनुष्यों के हृदय-वेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।"

दूसरी श्रेणी के वे कवि हैं, "जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को, अपनी अनभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है।" ऐसी रचना करने वाले महाकवि कहलाते हैं।

◇ ◇ ◇

पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से काव्य का वर्गीकरण किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् के अनुभव के आधार पर काव्य को दो वर्गों में विभाजित कर देना चाहिए : विषय-प्रधान काव्य और विषयि-प्रधान काव्य। विषय-प्रधान काव्य में बाह्यजगत् के वर्णन की प्रधानता रहती है। विषयि-प्रधान काव्य में मुख्यतः कवि के उत्कट मनोवेग प्रदर्शित होते हैं। अतः इन्हें आत्माभिव्यंजन या भावप्रधान काव्य भी कहते हैं।

◇ ◇ ◇

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य के आठ मुख्य भेद किए जा सकते हैं :

१. महाकाव्य (Epic, Heroic Poetry)
२. नाट्य काव्य (Dramatic Poetry)
३. प्रकृति काव्य (Pastoral Poetry)
४. उपदेशात्मक काव्य (Didactic Poetry)
५. सौन्दर्य चित्रणात्मक काव्य (Artistic Poetry)
६. गीति काव्य (Lyric Poetry)
७. प्रकृत काव्य (Realistic Poetry)
८. आदर्शात्मक काव्य (Idealistic Poetry)

इन भेदों में महाकाव्य (Epic) सबसे महान् है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

१. नायक की दृष्टि से इसके दो भेद हैं; (क) नायक कोई महान् व्यक्तित्व वाला हो; जैसे 'इलियड' और 'ओडिसी' में : (ख) स्वयं कवि ही उसका नायक हो; जैसे 'डिवाइन कामेडी' में दान्ते स्वयं नायक के रूप में दिखाई पड़ता है और आद्यन्त प्रथम पुरुष अर्थात् 'मैं' के रूप में बोलता है।

२. आकार और विस्तार में इसे वृहद होना चाहिए और इसका ढंग वर्णनात्मक (Narrative) होना चाहिए।

३. विषय महान् परम्परा-प्राप्त एवं लोकप्रिय हो, वह अपने मूल पथ से कभी दूर जाकर आँखों से ओझल न हो। अर्थात् कवि अपनी भावना और धारणा के प्रवाह में कथा-सूत्र को छोड़कर अपने पथ से दूर बह न जाए।

४. जातीयता की भावना से ओतप्रोत हो।

५. जातीय संघर्ष का समावेश हो।

६. पात्र केवल मानव-जाति तक ही सीमित न हो। देवता, भूत-प्रेत आदि अलौकिक प्राणियों को भी अनिवार्य रूप से पात्र बनाया गया हो।

७. सम्पूर्ण कथा में एकसूत्रता हो, नायक को केन्द्र मानकर वह चतुर्दिक घूमती भले ही रहे।

८. शैली में स्पष्टता (Perspicuity) और उत्कृष्टता (Sublimity) हो।

९. उसकी कार्यावस्था का प्रारम्भिक, माध्यमिक और अन्तिम भाग एक सूत्र में गुँथा हुआ हो।

१०. महाकाव्य के चरित्र में अनेकरूपता (Variety), नवीनता (Novelty) और व्यक्ति-वैशिष्ट्य (Individuality) होना चाहिए। होमर

के महाकाव्य 'इलियड' का प्रत्येक चरित्र अपनी क्रियाशीलता एवं वाग्वैदग्ध्य के द्वारा अन्य चरित्रों से अपना अलग अस्तित्व बना लेता है।[1]

११. विचारों में स्वाभाविकता और उदात्त भावना होनी चाहिए। उनमें किसी भी प्रकार की कृत्रिमता, अस्वाभाविकता, निकृष्टता या अश्लीलता वर्जित है।

१२. अरिस्टाटल के मतानुसार महाकाव्य की कथावस्तु दो प्रकार की होती है : (१) ऋजु (Simple) और (२) जटिल (Implex)। जब-जब नायक के भाग्य में स्थिरता हो, उसमें किसी प्रकार की गति न पाई जाए तो वह ऋजु कथावस्तु कहलाती है। जटिल कथावस्तु दो प्रकार की है :

(क) जब नायक के भाग्य की गतिविधि में एकरूपता हो, या तो उसका भाग्य उसे निरन्तर अभ्युदय एवं वैभव-वृद्धि की ओर ढकेलता रहे अथवा पतन के पथ पर सतत घसीटते लिए चले तो कथावस्तु को जटिल की संज्ञा दी जाती है।

(ख) जब भाग्यचक्र नायक को उत्थान और पतन की दो भिन्न दिशाओं में घुमाता रहे अर्थात् कभी उसे भाग्योदय के दिन देखने को मिले तो कभी दुर्भाग्य के थपेड़ों से उसे मूच्छित होना पड़े तो ऐसी कथावस्तु जटिल (Implex) कहलाती है। इस प्रकार की कथावस्तु श्रेष्ठ महाकाव्य के विशेष अनुकूल होती है। जब हम नायक को अभ्युदय या पतन की स्थिति से नाना प्रकार की विपत्तियाँ झेलते हुए भाग्य की अनिश्चित स्थिति में देखते रहते हैं तो यह जानने की सदा उत्कंठा बनी रहती है कि उसके भविष्य में क्या बदा है। इस प्रकार कथानक हमारे चित्त को सदा आकर्षित किए रहता है।

आजकल काव्य का एक अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण मिलता है। कविता के पाँच मुख्यरूप इस प्रकार हैं : (१) प्रबन्धकाव्य (२) वर्णनात्मक काव्य (३) विचारात्मक काव्य (४) भावात्मक काव्य (५) चित्रकाव्य।

१. प्रबन्धकाव्य के भेद—महाकाव्य, खंडकाव्य, एकार्थकाव्य, गीतिकथा, मुक्तक प्रबन्ध, नाट्य प्रगीत, आत्मचरित।

२. वर्णनात्मक के अन्तर्गत किसी व्यक्ति, स्थान, दृश्य अथवा यात्रा का वर्णन पाया जाता है।

---

1. Homer has excelled all the heroic poets that ever wrote in the multitude and variety of his characters. Every god that is admitted into his poem, acts a part which would have been suitable to no other deity.—Addison.

३. विचारात्मक काव्यों में उपदेशप्रद , धर्म-निर्देश, नीति-सम्बन्धी रचना पाई जाती है ।

४. भावात्मक में सब प्रकार की भावनाओं को व्यक्त करने वाली व्यक्तिगत मुक्तक कविताएँ, शोक गीत, प्रेम गीत, प्रगीत, प्रार्थना, स्तुति, आत्मनिवेदन, उपालम्भ-सम्बन्धी रचनाएँ मानी जाती हैं ।

५. चित्रात्मक काव्य में, कमलबन्ध, खड्गबन्ध आदि बन्धों के अतिरिक्त प्रहेलिका, समस्यापूर्त्ति, कूट, पदगुप्त, अन्तरालाप, वहिरालाप, प्रश्नोत्तर, भाषाचित्र या अन्योक्ति आदि की गणना की जाती है ।

तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों कविता की सरिता नया-नया मार्ग बनाती चली जा रही है, त्यों-त्यों उसके परिवर्तित रूप की झाँकी दिखाने के लिए नये-नये ढंग से वर्गीकरण करना आवश्यक होता जा रहा है । उपर्युक्त विविध भेदों में अनेक का वर्णन हम पूर्व अध्यायों में कर आए हैं । दो-चार नये भेदों का स्वरूप समझाने का यहाँ प्रयास किया जायगा ।

एकार्थ काव्य : ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमें महाकाव्य के सदृश न तो पंचसंधियों का विधान होता है ,और न उनकी कथा अति विस्तृत होती है । कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भावव्यंजना की ओर अधिक रहता है; जैसे, रत्नाकर जी का 'गंगावतरण' ।

मुक्तक प्रबन्ध : जब मुक्तक छन्दों को मिलाकर एक कथा बन जाए तो वह काव्य मुक्तक प्रबन्ध कहलाता है; जैसे, रत्नाकर जी का 'उद्धव शतक' ।

नाटकीय गीत : छन्दोबद्ध आत्मचरित जिन्हें किसी कथा के पात्र आत्मानुभव या आत्मभावना के रूप में अभिव्यक्त करते हैं; जैसे, 'द्वापर' में कृष्ण, यशोदा, नारद, आदि स्वयं अपने मनोभावों को प्रकट करते हैं ।

शोकगीत (Elegy) : यह प्रगीत काव्य का ही एक भेद है । इसे होमरशैली के महाकाव्य (Epic) का ठीक विपरीत समझना चाहिए । कवि शोक और प्रेम को काव्य का विषय बनाता है और अपने अतीत के रोदन अथवा भविष्य की आशा का गान करता है ।[1]

गीतिकथा (Ballad) : साहित्य में बैलेड का अर्थ है वे सरल कथाएँ जो गीत के रूप में कही जाती हैं । सामान्यतः भावों को उद्दीप्त करने वाले उन

---

1. As he will feel regret for the past or desire for the future, so sorrow and love become the principal themes of the elegy. —S. T. Coleridge.

लघु गीतों को जो कथानक संयुक्त हों, उसे गीति कथा कहते हैं। ये कई प्रकार के हैं : कथाहीन नृत्य-नाट्य, वाद्यात्मक, एक व्यक्ति के गाने योग्य, समवेत रूप में गाने योग्य, नृत्य-गीत इत्यादि।

कुछ लोगों का विचार है कि काव्य का सबसे प्राचीन तथा सार्वभौम रूप बैलेड ही है।

गीतिका (सौनेट)

नियमित तुकवाली चौदह चरणों की गीतिका को प्रगीत या सौनेट कहते हैं। हिन्दी में भी सौनेट लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें चरणों का बन्धन नहीं होता। भावात्मकता और लघुता इनकी विशेषता है।

परिवृत्ति काव्य (पैरोडी)

किसी कवि या किसी शैली-विशेष का परिहास करने के लिए उसी शैली पर जो रचना की जाती है उसे परिवृत्ति काव्य कहते हैं। इसके तीन रूप हैं : (१) शब्दात्मिका, जिसमें कुछ शब्द बदल लेने से रचना उपहासास्पद हो जाती है। (२) रूपात्मक, जिसमें किसी लेखक की शैली या शब्द-प्रयोग को हास्यास्पद विषय के लिए प्रयुक्त करते हैं। (३) विषय-सम्बन्धी (थीमैटिक) जिसमें किसी कृति का विषय और लेखक की भावना ही बदल देते हैं।

संबोध गीति (ऑड्स)

जिन गीतों में किसी को संबोधित करके काव्य-रचना होती है, उन्हें संबोध-गीति कहते हैं। 'प्रसाद' की 'करुणा की कछार', 'पन्त' की 'छाया', प्रभात की 'आकाश' नामक कविताएँ भी इसी वर्ग में आती हैं।

भारतेन्दु-युग के उपरान्त मुक्तक काव्यों का सृजन अन्य प्रकार के काव्यों से कहीं अधिक हुआ है। आज मुक्तक काव्य का युग है। अतएव मुक्तक काव्य के विषय में विस्तार से विचार कर लेना चाहिए।

मुक्तक काव्य

हम पूर्व अध्याय में मुक्तक काव्य पर प्रकाश डाल आए हैं। प्रसंगवशात् यहाँ मुक्तक के भेदों और उपभेदों की भी समीक्षा कर लेनी चाहिए। 'मुक्तेन मुक्तम्' के लक्षण के अनुसार आगे और पीछे के तारतम्य से मुक्त रहने के कारण स्वतः पूर्ण पदों को मुक्तक की संज्ञा दी जाती है। मुक्तकों के दो भेद : (१) पाठ्य और (२) गेय हो सकते हैं। पाठ्य मुक्तक प्रायः शृङ्गार-विषयक, नीतिपरक, सूक्तिपरक और कभी-कभी वीरता-विषयक भी दिखाई पड़ते हैं। रहीम और वृन्द के दोहे प्रायः नीतिपरक, गोस्वामी तुलसीदास की दोहावली भक्तिपरक,

बिहारी सतसई और दुलारे दोहावली आदि ग्रन्थ शृङ्गारपरक मुक्तक माने जाते हैं। शिवाबावनी और वीर सतसई वीर रस के लिए प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

प्रगीत काव्य

गेय मुक्तक के दूसरे नाम हैं—गीत काव्य, गीति काव्य, प्रगीत काव्य अथवा अंग्रेजी में लीरिक पोएट्री (Lyric Poetry)। प्रगीत काव्य शब्द इस बात का साक्षी है कि प्रगीत काव्यों में गीतात्मकता किसी न किसी रूप में होनी चाहिए।

गीति काव्य का लक्षण

महादेवी वर्मा का कथन है कि "सुख-दुःख के भावावेशमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"

इस परिभाषा से गीत के तीन गुण स्पष्ट होते हैं : (१) कवि का भावावेश-स्थिति में पहुँचना (२) शब्दों का समुचित चयन करना (३) रचना का स्वर-साधना के उपयुक्त होना। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कवि अपनी स्वानुभूति को जब सस्वर शब्द-साधना के साथ अभिव्यक्त करता है तो उसकी पदावली गीत बन जाती है।

आधुनिक गीत प्राचीन गीतों से एक प्रकार से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि आधुनिक गीतों पर अंग्रेजी की लीरिक पोएट्री (Lyric Poetry) का बड़ा प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी में गीत काव्य (Lyric Poetry) का लक्षण इस प्रकार मिलता है, "गीति काव्य निश्चित रूप से किसी विचार, भाव या स्थिति को प्रकट करता है।" दूसरा लक्षण है कि "गीति काव्य के लिए गेय होना कोई आवश्यक नहीं। इसमें कवि की स्वानुभूति को बाह्य घटनाओ से अधिक महत्व दिया जाता है।"[१]

---

1. A. (Lyric poetry must be) "held essentially to imply that each poem shall turn upon some single thought, feeling or situation."

   B. Lyric poetry which is actually sung or not is generally composed in stanzas and as distinguished from epic and dramatic poetry is expressive of the poet's feeling rather than of outward incident or events, and may take a special form as ode, sonnet, hymn or any of numerous verse schemes.

   C. All poetry is musical.—Walter Pater.

संक्षेप में गीति काव्य की विशेषताएँ ये हैं : (१) कवि की भावावेशमयी अवस्था होती है। (२) कवि का व्यक्तित्व रागात्मकता के साथ आत्मनिवेदन करता है। (३) जिसका आकार इतना हो कि रागात्मकता का प्रवाह मन्द न पड़े (४) जिसमें घटना की अपेक्षा भावना को उच्च स्थान मिले। अर्थात् जिस काव्य में एक तथ्य या एक भाव के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी हो वह गीति काव्य है।

गीति काव्य का संक्षिप्त इतिहास

हमारे देश में रामायण, महाभारत-सम्बन्धी अनेक लोक-गीत अज्ञात काल से चले आ रहे हैं। इनका काल निर्धारित करना सरल नहीं। समय-समय पर ये लोक-गीत साहित्यिक रूप धारण करते रहे हैं। गोस्वामी जी के 'रामलला नहछू' में इसका प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार भारतेन्दु ने लावनी आदि गीतों में उसी लोक-गीत को साहित्यिक रूप देने का प्रयास किया।

दूसरी प्रकार के गीत हैं साहित्यिक, जिनका रूप नाथपंथियों के पदों में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश में गीतों की परम्परा अवश्य रही होगी। कुछ लोगों का मत है कि हिन्दी के गेय मुक्तक उसी परम्परा से आये होंगे। विद्यापति की पदावली पर 'गीतगोविन्द' का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। इससे सिद्ध होता है कि कबीर, तुलसी, सूर आदि कवियों ने जिन गेय पदों की रचना की उन पर—लोक-गीत, और साहित्यिक गीत—दोनों का प्रभाव पड़ा था।

लोक-गीतों की कला सौंदर्यपूर्ण भले ही न हो किन्तु उनको अलंकृत करने के लिए कोई व्यक्ति नियम-विशेष के बन्धन में नहीं पड़ता। किन्तु साहित्यिक गीतों में कला का दिव्य रूप दिखाई पड़ता है, जो लोक-गीतों में सम्भव नहीं।

छठा अध्याय

काव्य का कलात्मक विश्लेषण

गीति काव्य का इतिहास

हम पूर्व कह आये हैं कि गीति काव्य संसार में काव्य का सबसे प्राचीन रूप माना जाता है। हमारे देश में एक वेद ऐसा है जिसका पाठ नहीं गान होता है। ऋषियों ने उसे सामवेद (गान) नाम से ही पुकारा है। गीत शब्द का अर्थ ही है जो गाया जाए। स्वयं वेदों के गायकों ने उन्हें गीत कहा है : "गीर्भिवरुण-सीमहि" अर्थात् हे मेरे वरणीय, मैं तुम्हें अपने गीतों से बाँधता हूँ।

बौद्ध साहित्य की थेर गाथाओं में भी गीति काव्य का दर्शन होता है। तथ्य तो यह है कि गाथा शब्द का अर्थ है गीति।

कुछ लोगों का मत है कि वैदिक ऋचा और बौद्ध गाथा में अन्तर इतना ही है कि "ऋग्वेद की ऋचा में ईश्वर का स्तवन मिलता है और गाथा में मनुष्यों या राजाओं का।"

वाल्मीकि रामायण में पाठ्य एवं गेय दोनों के तत्व विद्यमान हैं। 'मेघदूत' को कतिपय आलोचक खंडकाव्य मानते हैं किन्तु अधिकांश विद्वान् उसे गेय काव्य समझते हैं।

◇ ◇ ◇

संस्कृत साहित्य में गीति काव्य अपने वास्तविक रूप में 'गीतगोविन्द' में प्राप्त होता है। जयदेव के इस काव्य का हिन्दी साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है। विद्यापति और चंडीदास दोनों कवियों ने जयदेव की शैली को आत्मसात् करके ऐसी सरल-कोमल-कान्त पदावली उपस्थित की, जिसमें काव्य रस और संगीत रस के मिश्रण से विलक्षण आह्लाददायिनी शक्ति आ गई। विद्यापति के गीत पदलालित्य, सरस राग, हृदय-रस और उक्ति-वैचित्र्य से आप्लावित होकर गीतिकारों के सम्मुख हिन्दी गीतों का एक आदर्श रखते रहे।

निम्नलिखित उद्धरणों से पाठकों को जयदेव के गीतगोविन्द और विद्यापति की पदावली का साम्य स्पष्ट हो जाएगा :

गीतगोविन्द : ललित लवंगलता परिशीलन कोमल मलय समीरे ।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे ।।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते ।
नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।।

विद्यापति पदावली : सरस वसंत समय भल पाओलि दखिन पवन बहु धीरे ।
सपनहु रूप बचन एक भाखिए मुखसों दुरि करु चीरे ।।

◇ ◇ ◇

गीतगोविन्द : किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण ।
किं धनेन जनेन किं मम जीवितेन गृहेण ।।

विद्यापति पदावली : कि मोरा जीवन कि मोरा जौबन ।
कि मोरा चतुरपने ।।

कबीरदास

रहस्यवादी गीतों में कबीरदास का गीति काव्य अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। निर्गुण ब्रह्म को अपनी प्रेम-साधना का विषय मानकर और अपने को राम की बहुरिया बनाकर कबीर ने विरह और मिलन-सम्बन्धी गीतों में जो राग फूंका वह आज तक जनता को तड़पाता और आह्लादित करता आ रहा है। आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध बताते हुए वह कहते हैं, "हरि मोर पीव मैं हरि की बहुरिया"[1] विरह की स्थिति में तड़पन का वर्णन करते हुए कबीर कह उठते हैं :

बालम आओ हमारे गेह रे ! तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोको यह सन्देह रे ।।

◇ ◇ ◇

अन्न न भावे नींद न आवे, गृह बन धरे न धीर रे ।
अविनासी दुलहा कब मिलिहौ भक्तन के रछपाल ।।

◇ ◇ ◇

मैं ठाढ़ी विरहिन मग जोऊँ प्रियतम तुमरी आस ।।

रहस्यवाद की दूसरी स्थिति में पहुँचकर कबीर कह उठते हैं : "उस अनंत का तेज अनेक सूर्यों के समान जान पड़ता है और पत्नी ने उस दृश्य को अपने पति के संग जागृत होकर देखा। वह तेज नितांत अशरीरी था और प्रकाश, बिना सूर्य अथवा चन्द्र के ही, हो रहा था। दास अपने स्वामी की सेवा

१. कबीर ग्रंथावली—पद ११७, पृष्ठ १२५ ।

में आनन्द-विभोर होकर लगा हुआ था । परब्रह्म के उस तेज की समता किस वस्तु के साथ करूँ ? वह शोभा कहने की नहीं है, उसे देखते ही बनता है ।"[१]

तीसरी स्थिति में पहुँचकर कबीर मस्त होकर कहते हैं :

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ।

ऐसी मस्ती की स्थिति से अनभिज्ञ जनता को फटकारते हुए कहते हैं :

यह जग अन्धा मैं केहि समुझावों ।
इक दुइ होय उन्हें समझावों सब ही भुलाना पेट के धंधा ।

कबीर के गीति काव्य में सान्द्र हृदयानुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान का सुन्दर सामंजस्य मिलता है ।

सूरदास

सूर, तुलसी, मीरा आदि वैष्णव भक्तों के गीति काव्यों में रागात्मक तत्वों की प्रधानता पाई जाती है । कई आचार्यों का मत है कि सूर से पूर्व ब्रज में गीतों की कोई परम्परा अवश्य थी जिसमें बैजू बावरे के गीत विरचित हुए थे । ब्रज की उस परम्परा का प्रभाव तो अवश्यम्भावी था ही इसके अतिरिक्त जयदेव की गीत-परम्परा, जो चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव और विद्यापति पदावली के द्वारा सर्वव्यापी बन रही थी, भक्त कवियों पर अपना प्रभुत्व जमाती जा रही थी । विद्यापति के समान सूर के पदों पर भी गीतगोविन्द का प्रभाव स्पष्ट झलकता है ।[२]

सूर और तुलसी

सूर और तुलसी के गीति काव्यों में समानता भी है और अन्तर भी । दोनों का व्यक्तित्व दोनों के गीति काव्यों में मुखर हो उठा है । कृष्ण की बाललीला के गीतों में मानों यशोदा के बहाने सूर के हृदय का स्नेह-स्रोत फूट पड़ा है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—१, २, ३, पृष्ठ १२

२. मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिदं राधे गृहं प्रापय ।

(गीतगोविन्द)

गगन गरज घहराइ जुरी घटा कारी
पौन झकझोर चपला चमकी चहुँ ओर,
सुवन तक चितै नन्द डरत भारी !!

—सूरदास

साधक सूर मानो सिद्धि की स्थिति में पहुँचने पर भक्ति अर्थात् चिन्मय रस के एकमात्र आकर निखिलानन्द सन्दोह भगवान से मिलकर 'एकमेक' हो गए हैं। यशोदा के गीत के माध्यम से कृष्ण को निरन्तर देखते रहने की सूर की अभिलाषा मानो साकार हो उठी है :

मेरे कान्ह कमल दल लोचन,
अबकी बार बहुरि फिरि आवहु, कहा लगै जिय सोचन।
यह लालसा होत जिय मेरे, बैठी देखत रैहों।
गाइ चरावन कान्ह कुँवर को कबहूँ जान न दैहों॥

सूर के गीति काव्य में "रतिभाव के तीनों प्रबल और प्रधान रूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति"—प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। विनय के पद भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत, बाललीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेम-सम्बन्धी पद दाम्पत्य-रति-भाव के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इस प्रकार सूर के गीतों में सभी प्रकार के प्रेमतत्व विद्यमान हैं। यद्यपि तुलसी में भी ये तीनों प्रकार के गीत प्राप्त हैं किन्तु गीतावली में प्रबन्धात्मकता की ओर भी दृष्टि होने से सूर की तरह एक प्रसंग को कई रूपों में रखना तुलसी ने उचित नहीं समझा। सूर को तुलसी की भाँति कथाक्रम का निर्वाह तो करना नहीं था, इसलिए उनका मन जिस रम्य दृश्य को देखने लगता है उसीमें तन्मय होकर सूर को हृदयोद्गार की अभिव्यक्ति के लिए देर तक रोके रहता है। सूर भी भाव-प्रवणता के कारण उसी ध्वनि-प्रवाह के बीच देर तक गोते लगाते रहते हैं और हर बार एक नया रत्न ढूँढ़ लाते हैं।

दूसरा अन्तर है दृष्टिकोण का। सूर विनय के पदों में भी सख्यभाव को स्मरण रखते हैं किन्तु तुलसी वात्सल्य में भी दासभाव को नहीं छोड़ते। राम के विरह में माता कौशल्या प्रिय पुत्र की 'ललित पन्हैयाँ' को हृदय से लगाती हैं :

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभु जी की ललित पन्हैयाँ॥

सूर यदि यशोदा के हृदय में बैठकर वात्सल्य रस का आनन्द लेते हैं तो विरहदग्ध गोपियों की आहों से सन्तप्त होते हुए रोदन भी करते हैं :

मेरे नैना बिरह की बेलि बई।
सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई॥
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरि छई॥

सूर के गीतों में हृदय की उन सभी अन्तर्दशाओं का वर्णन मिलता है जो

सम्भव हो सकती हैं।

तुलसीदास

"गोस्वामी जी की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नहीं थी। गीतावली गीत काव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है।" शुक्ल जी एक स्थान पर तुलसी के गीतों पर प्रकाश डालते हुए सूर से यह विभिन्नता दिखाते हैं कि "गोस्वामी जी की दृष्टि वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं। तुलसी की वाणी पाठकों को ऐसी भूमियों पर ले जाकर खड़ा करने में ही अग्रसर रही है जहाँ से जीते-जागते जगत् की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता के बीच भगवान् की भावमयी मूर्ति की झाँकी मिल सकती है।"

और भाव-दशाओं के वर्णन में चाहे अन्य कवि तुलसी की समानता भले ही कर जायँ पर 'आत्मग्लानि' का जैसा चित्र तुलसी ने खींचा है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। आत्मग्लानि का भाव तभी उदय होता है जब अन्तःकरण शुद्ध और सात्विक बन जाता है। जब भरत का हृदय राम-वनगमन से छटपटाने लगता है और लाख सफाई देने पर भी वे अपने को निष्कलंक नहीं सिद्ध कर पाते तो बिलखकर कहने लगते हैं:

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वै हौं?
क्यौं हौं आज होत सुचि सपथनि? कौन मानिहै सांची?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की, खल-वच-विसिषन बाँची?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूझै?
दीनबन्धु कारुण्य सिन्धु बिनु कौन हिए की बूझै?

मीरा

गीति काव्य में निजी सुख-दुःख की जितनी प्रगाढ़ अभिव्यंजना होगी उतनी ही उसकी महत्ता बढ़ेगी। इस दृष्टि से मीरा के गीत अप्रतिम हैं। गिरधर-गोपाल को ही अपना पति मानकर इस विरहिणी ने जिन पदों में आत्मनिवेदन किया है वे निजत्व की पराकाष्ठा तक पहुँच गए हैं। मीरा के विरह से आहत हृदय को जब कसम और वेदना विक्षिप्त बना देती हैं और उसकी मनोद्दशा का कोई पारखी नहीं मिलता तो वह पुकार उठती है:

हेरी मैं तो दरद दीवाणी मेरा दरद न जाणै कोई।
घायल की गति घायल जाणै की जिन लाई होई।

जौहर की गति जौहरी जाणै की जिन जौहर होई।
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस बिध होई॥

हरिश्चन्द्र-युग

भारतेन्दु-काल में गीतिकाव्य की दो धाराएँ हो गईं : (१) आत्मनिवेदन-शैली (२) राष्ट्रीय शैली। प्रथम में विद्यापति-काल से चली आने वाली आत्म-निवेदन की मधुरिमा प्रधान थी, दूसरी में दुर्दशाग्रस्त देश की दीन दशा को देख-देखकर करुणा का स्रोत उमड़ रहा था। भारतेन्दु की 'चन्द्रावली'[1] में प्रथम शैली और 'भारतदुर्दशा'[2] में दूसरी शैली स्पष्ट झलकती है।

द्विवेदी-युग

राष्ट्रीयता की धारा श्रीधर पाठक के गीतों से वेगवती बनी। पाठक जी का राष्ट्रीय गीत 'जय जय प्यारा भारत देश' किसी समय सारे हिन्दी-प्रदेश में गूँज उठा था। इसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। द्विवेदी-युग के सबसे अधिक देदीप्यमान नक्षत्र हैं—मैथिलीशरण गुप्त। गुप्त जी की 'भारत-भारती' के गीत नगर-नगर, गाँव-गाँव; पाठशालाओं में, सभा-सोसाइटियों में स्थान-स्थान पर गाए जाने लगे। "भारत देश का गौरव सम्पूर्ण देशों से उच्च घोषित किया गया। यह ऋषि-भूमि पूज्य मानी गई।"[3] यद्यपि गुप्त जी के राष्ट्रीय गीतों का ही अधिक प्रचार हुआ तथापि यह समझना भूल होगी कि उन्होंने अन्य पद्धतियों पर गीतों की रचना नहीं की।

बाबू गुलाबराय जी का मत है कि गुप्त जी ने चार प्रकार के गीतों का प्रणयन किया : (१) छायावादी (२) आह्लादसूचक (३) वेदनासूचक (४) नारी-गौरवसूचक।

---

१. **पिय तोहि कैसे राखों छिपाय।**
सुन्दर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय।
◇ ◇ ◇
हरीचन्द जीवन धन मेरे छिपत न क्यों इत धाय।

२. **आवहु रोवहु सब मिल भारत भाई।**
हा-हा भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

३. **सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?**
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।

'झंकार' में छायावादी,[1] 'साकेत' में आह्लाद[2] और दुःखसूचक,[3] 'यशोधरा' में नारी-गौरव[4] सूचक गीत मिलते हैं।

छायावादी गीति काव्य की प्रेरणा-भूमि

हम पूर्व कह आए हैं कि द्विवेदी-युग में गीति काव्य की दो प्रमुख धाराएँ थीं: (१) भारतीय परम्परावादी (२) परिवर्तनवादी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रथम धारा के समर्थक थे और नवयुवक कवियों में मुकुटधारी, प्रसाद, पन्त, निराला आदि द्वितीय धारा के परिपोषक। परम्परावादियों की रूढ़िवादिता और हिन्दी के प्रति अंग्रेजीदानों की उपेक्षा के थपेड़ों से ऊबकर नवयुवक-वर्ग कोई नया मार्ग ढूँढ़ने को व्यग्र हो रहा था। इसी काल में बंगाल का एक भारतीय अपनी ही भाषा और अपने ही परिचित विचारों के बल से काव्य के विशाल मन्दिर में विश्व के दिग्गज विद्वानों द्वारा सम्मानित किया जा रहा था। उसकी कविता ने भारतीय भाषा-प्रेमियों को उस तिमिराच्छन्न काल में आशा की वह ज्योति दिखाई, जिसकी ओर निराश हृदय नवयुवक दौड़ पड़े। रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाएँ बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाने लगीं। गुप्तबन्धु और सुमित्रानन्दन पन्त ने यह स्वतः स्वीकार किया है कि उन पर रवीन्द्रनाथ की रचनाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

गुप्तजी लिखते हैं: "मेरा यह विश्वास है कि 'गीतांजलि' की उस व्यापक प्रसिद्धि ने हिन्दी के कुछ नवोदित कवियों को नयी प्रेरणा दी और उसका फल हिन्दी कविता की इस नयी धारा का विकास है।"

पन्तजी का मत है: "पूर्व में उपनिषदों के दर्शन के जागरण की आभा को पश्चिम की यंत्र-युग की सभ्यता सौन्दर्य-बोध से दूषित कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने सर्वप्रथम छायावाद की भावना को जन्म दिया।"

---

१. तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड़ खड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं॥ (झंकार)

२. निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया।
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया॥ (साकेत)

३. शिशिर न फिर गिरि वन में।
जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज नंदन में,
कितना कम्पन तुझे चाहिये ले मेरे इस तन में। (साकेत)

४. सखि वे मुझ से कहके जाते,
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते? (यशोधरा)

इतिहास साक्षी है कि ईसा की बीसवीं शताब्दी लगते-लगते स्कूलों और कालेजों में अंग्रेज़ी साहित्य की शिक्षा का प्रचार व्यापक बन गया था। परिणाम स्वरूप अंग्रेज़ी काव्य का प्रभाव हिन्दी कविता की गतिविधि पर पड़ने लगा। नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि इसका सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी की उस काव्य-धारा पर पड़ा जो थोड़ी-अधिक "भाव-प्रवणता और आध्यात्मिकता लिए श्रीधर पाठक के काव्यानुवादों और प्रकृति-साहचर्य-सम्बन्धी मौलिक पद्यों में उद्भासित हुई। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति में उत्तर भारत की परिवर्तन-शील सामाजिक स्थितियाँ मुख्य रूप से कारण बनी थीं।"

इन सब कारणों से छायावादी कविता का जन्म हुआ। जन्म-काल में इसका रूप कई आचार्यों को इतना विकृत प्रतीत हुआ कि वे इसका जन्म देश और जाति के लिए अमंगलकारी मानते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक बार खीझकर लिखा है कि "छायावादियों की रचना तो कभी समझ में भी नहीं आती। ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छःपदे, कोई ग्यारह पदे, कोई तेरह पदे ! किसी की चार सतरें गज-गज भर लम्बी तो दो सतरें दो ही दो अंगुल की ! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती; न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवा करने वाले। इनका मूलमन्त्र है 'हमचुनां दीगरेनेस्त'। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।"

आज छायावादी कविता के संबन्ध में आलोचकों का मत सर्वथा भिन्न है। आज इसका रूप निखर आया है, इसके सौंदर्य पर पाठक मुग्ध होता है। इसमें अनेक गुणों का समावेश माना जा रहा है। इसका वर्गीकरण किया गया है। रहस्यवाद और छायावाद का भेद स्पष्ट किया गया है। इसके चार उन्नायक प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी अपनी-अपनी शैली के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं। इनकी सत्यनिष्ठा और सतत तपस्या से छायावाद का रूप निखर आया है। इनकी शैली और विचार-धारा स्पष्ट हो गई है।

छायावाद की प्रयोगावस्था

छायावादी कविता अपने प्रारम्भिक काल में स्वच्छन्दतावाद के समीप पहुँचती है और परिपक्वावस्था में रहस्यवाद का दर्शन कराती है। सन् १९०५ से १९१२ तक की हिंदी कविताओं पर अंग्रेज़ी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति

के अपरिपक्व रूप का प्रभाव झलकता है किन्तु सन् १९१३ से २० तक का समय ऐसा प्रतीत होता है मानो हिंदी कवियों की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति परि-पक्व और प्रगाढ़ बनती हुई 'छायावाद की विशिष्ट काव्यशैली के रूप में परिवर्तित और परिणत' होती जा रही है। नन्ददुलारे जी का मत है कि 'साधना' के गद्य कवि रायकृष्णदास, स्वयं प्रसाद जी और मुकुटधारी पांडेय आदि की तत्कालीन रचनाओं में छायावाद की इस प्रयोगावस्था के चिह्न मिलते हैं। अब तक छाया-वादी जीवन-दर्शन की रूप-रेखा बन चुकी थी। 'इन्दु' पत्रिका में प्रसाद जी की छायावादी कविताओं ने इस शैली की कविता के अनेक पाठक तैयार किए। उनकी 'मकरन्दबिन्दु' नामक कविता बड़ी प्रिय हुई। प्रो० मनोरंजन का कथन है कि सन् १९१३ में लिखे गीत की एक पंक्ति आज भी उन्हें मुग्ध करती है।

गीत है : **आज इस घन की अँधियारी में,**
कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन की क्यारी में।

छायावाद का स्पष्ट रूप

सन् १९२० के पूर्व-पश्चात् छायावादी जीवन-दर्शन के दो रूप स्पष्ट हो गए : (१) राष्ट्रीय रूप (२) साहित्यिक रूप। कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' और 'प्रभा' पत्रिका में 'भारतीय आत्मा' और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के राष्ट्रीत गीत जनता को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे और दूसरी ओर साम्प्रदायिकता और साम्राज्यवादिता से ऊबा हुआ 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला' आदि का कवि-हृदय सत्यं-शिवं-सुन्दरं की खोज में अनेक प्रयोग कर रहा था। सुमित्रानन्दन पन्त की 'उच्छ्वास' नामक काव्य-पुस्तिका, निराला जी की 'जूही की कली' और 'पंचवटी', 'प्रसाद' जी के 'आँसू' का प्रकाशन होते-होते छायावाद का जीवन-दर्शन धुँधले अंधकार से कुछ-कुछ प्रकाश में आने लगा।

छायावाद-काव्यान्दोलन

इसके उपरान्त छायावाद-काव्यान्दोलन हिन्दी-जगत् में सर्वत्र व्याप्त हो गया। प्रथम महायुद्ध के समय संसार के उन्नत देशों में अनेक प्राचीन मान्यताएँ आहत हो चुकी थीं। युद्ध के उपरान्त हमारे देश में नयी चेतना और नयी धारणा की लहरें तेजी से दौड़ रही थीं। महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन भारतीयों में ऐसे आत्मविश्वास को जमाता जा रहा था जिसका अनुभव सामूहिक रूप में देश ने शताब्दियों से नहीं किया था। इस नव जागरण-युग में भारतीय जनता का चित्त देश, धर्म, साहित्य और समाज को बंधन से मुक्त करने को छटपटा

रहा था। साहित्य में रोमांटिक (स्वच्छन्दतावाद) व्यक्तिवाद का मूल्य अंग्रेज़ी-पठित समाज समझ गया था, किन्तु अपने देश की राजनीति, समाजनीति, अर्थ-नीति, धर्मनीति और भाषानीति में चिंताशील वर्ग उस व्यक्तिवाद के साथ असा-मंजस्य देखकर तड़प रहा था। "संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अन्त-र्द्वन्द्व का काल था। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का हिन्दी कविता में बीज-वपन तो हो चुका था, पर नवीन मानवतावादी स्वच्छन्तावादी वैयक्तिक दृष्टि-भंगी को व्यक्त करने योग्य भाषा अब भी नहीं बन पाई।" कई कवियों ने रवीन्द्रनाथ की बँगला शैली का अनुकरण किया, किन्तु "छायावादी कवियों की वह भाषा व्यंग्य और उपहास का विषय बनी रही।" पर प्रयत्नशील कवियों ने साहस और धैर्य नहीं छोड़ा। भाषा को भावों के अनुकूल बनाकर ही दम लिया।

यह अटल सिद्धान्त है कि साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से अधिक काल तक विच्छिन्न होकर नहीं चल सकतीं। दोनों में समझौता करना ही पड़ता है। बाह्यस्थिति और अन्तर्स्थिति में सामंजस्य किए बिना व्यक्ति रह नहीं सकता, समाज चल नहीं सकता। अतः नयी परिस्थितियों और नयी मान्य-ताओं के साथ कवियों को अपने प्राचीन संस्कारों का सामंजस्य करना पड़ा। साहित्य-रचना और उसके आस्वादन दोनों की शैलियों में जो महान् अन्तर आ गया था उसके साथ प्राचीन पद्धति को समझौता करना पड़ा। द्विवेदी-युग में विषय-प्रधान कविता की प्रधानता थी किन्तु नये कवियों ने नये युग के प्रभाव से विषयि-प्रधान (Subjective) कविता की रचना की। कवि की कल्पना, उसकी चिंतन-शैली और उसकी अनुभूति में परम्परागत कल्पना, चिन्तन और अनुभूति से बड़ा अन्तर आ गया था।

नवीन प्रगीत मुक्तक

इसी अन्तर का परिणाम था—नवीन शैली के प्रगीत मुक्तकों की रचना, जिनकी अनेक विशेषताएँ आज परिलक्षित हो रही हैं। इन पर आगे चलकर विचार किया जाएगा। यहाँ छायावाद नामकरण की समस्या सुलझा लेना आवश्यक है।

छायावाद का नामकरण

कुछ लोगों का मत था कि यह शब्द अंग्रेजी से अत्यधिक प्रभावित बँगला के द्वारा हिन्दी में आया है, किन्तु यह मत अब अमान्य बन गया है। बँगला में छायावादी नाम की कविता का कहीं पता ही नहीं है। वास्तव में (१) "छाया-वाद[1] शब्द केवल चल पड़ने के जोर से ही" हिन्दी में आ गया है। यह शब्द

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ४६।

छायावादी कविता की प्रकृति को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ है। (२) शुक्ल जी का मत है : "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद की अन्तर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधिदशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को योरुप में 'छाया'—फैंटेजमाटा (Phantasmata)—कहते थे। इसी से बँगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे छायावादी कहलाने लगे।"[1]

(३) छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य शैली के रूप में है। सन् १८८५ ई० में फ्रांस में प्रतीकवादी (Symbolist) कवि हुए। उनकी शैली में "प्रस्तुतों के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों" को ग्रहण किया जाता था। इसी प्रतीक शैली का अनुसरण करने से हिन्दी की नवीन कविता छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। अतः छायावाद का अर्थ हुआ : प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।

(४) 'गीतांजलि तथा अंग्रेजी रोमांटिक कवियों की कविताओं की छाया लेकर जो कविता लिखी गई उसका उपहास करने के लिए व्यंग्य रूप से किसी ने इसका नाम छायावाद रखा जो आगे चलकर प्रचलित हो गया।

(५) कवि प्रकृति में अपनी ही सप्राण छाया देखता हुआ जड़ में चेतनता का आरोप करता है। अतः ऐसी कविता को छायावादी कविता कहा गया।

छायावाद और स्वच्छन्दतावाद

योरुप में स्वच्छन्दतावादी (Romantic) कविता का समय सन् १७९८ से १८३२ ई० तक माना जाता है। उस काल की कविता की प्रवृत्ति बहुत कुछ छायावादी कवियों से मिलती है। अतः प्रसंगवश रोमांटिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ लिखना आवश्यक है—क्योंकि कई साहित्यिकों के मत से अंग्रेजी का स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) ही हिन्दी में छायावाद

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५८३ संवत् २००२ वि०।

के नाम से अभिव्यक्त हुआ। किन्तु यदि शुक्ल जी के उस मत को, जो उन्होंने फ्रांस के संतों के सम्बन्ध में प्रकट किया है और जिसके आधार पर हिन्दी की कविता छायावादी कहलाती है, मान लिया जाए तो स्वच्छन्दतावाद और छायावाद दो भिन्न शैलियां हो जाती हैं।

इस बात को तो सभी स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार क्लासिक (Classic) कविता की रूढ़िबद्ध पद्धति से ऊबकर अठारहवीं शताब्दी के अन्त में योरुप में नवयुवक कवियों ने विद्रोह किया, ठीक उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में द्विवेदी-युग की परम्परागत शैली के विरोध में भारत में छायावाद का जन्म हुआ। परम्परा से विद्रोह करने वाला युवक वर्ग प्रत्येक देश में वस्तुगत, रूपगत एवं शैलीगत रूढ़ियों की श्रृंखला को तोड़ फेंकता है। रोमांटिक कवियों ने इंगलैंड में रूढ़ियों को तोड़कर जो कविताएँ कीं उनमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं। देखना है कि इनमें कौन-कौन विशेषता छायावादी कवियों में भी मूलरूप में विद्यमान है।

रोमांटिक कविता का लक्षण इस प्रकार है :

स्वच्छन्दतावादी काव्य वह काव्य है जिसमें उस भावुकतामय जीवन की प्रधानता हो जो कल्पना की दृष्टि से उद्दीप्त अथवा निर्दिष्ट हुआ हो और जिसमें स्वयं कवि की आत्मा इस कल्पना-दृष्टि को सशक्त बनाती एवं निर्देश करती रहती हो।[1]

स्वच्छन्दतावाद की विशेषता : वस्तुगत साम्य

रोमांटिक कवियों द्वारा निबद्ध काव्य-वस्तु में छायावादियों के समान निम्नलिखित बातें बताई जाती हैं—(१) शास्त्रवहिर्भूत कल्पित देशों, मध्ययुग या अतीतयुग के राष्ट्रीय गौरव के आकर्षक दृश्य तथा मोहक संस्कृति का मनोहर चित्रण (२) रंगगत सामंजस्य की अपेक्षा उत्तेजक एकांगी रंगों पर बल देना (३) प्रकृति को व्यक्तिगत और अव्यवहृत प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय समझना और विशेष भाव से उसके उद्धत और उद्दाम वेग वाले रूप पर

---

1. The Romantic spirit can be defined as an accentuated predominance of emotional life, provoked or directed by the exercise of imaginative vision, and in its turn stimulating or directing such exercise.

—A History of English Literature,
by Legouis and Cazamian, Page 997.

बल देना (४) रहस्यवाद और अति प्राकृत तत्व में विश्वास (५) कालरात्रि, श्मशान, मकबरा, विनाश, नियति-चक्र, प्रलय, झंझा आदि का भूरिशः आश्रयण और (६) स्वप्नलोक, अवचेतन चित्त और आवेशावस्था की बातें।[1]

प्रवृत्तिगत साम्य

रोमांटिक कवियों की निम्नलिखित प्रवृत्तियों से छायावादी कवियों का साम्य इस प्रकार है : (१) अत्यन्त वैयक्तिक दृष्टिकोण (२) इनके द्वारा निबद्ध नायक या तो वेदनाग्रस्त, विरक्ति-क्लान्त, आत्मकेन्द्रित व्यक्ति होता है या समाज के विरुद्ध भभकता हुआ विद्रोही, और दोनों ही अवस्थाओं में उसका व्यक्तित्व रहस्यमय होता है (३) कवि द्वारा निबद्ध काव्य-नायक तो इस प्रकार का व्यक्ति होता है, किन्तु स्वयं कवि अन्तर्दर्शी मर्मज्ञ व्यक्ति होता है (४) वह तर्क की अपेक्षा भावावेग को, यथार्थ की अपेक्षा आदर्शवाद को, परिस्थितियों से समझौता करने की अपेक्षा महत्वाकांक्षा को अधिक गौरव देता है।

शैलीगत साम्य

(१) नियमों और रूढ़ियों से स्वतंत्र रहने का दावा। (२) स्वतः-प्रवृत्त भावावेग पर बल (३) दिवास्वप्न जैसी अलीक कल्पना या असंलग्न चिन्ता-प्रवाह, अस्पष्टता, युगपत् सौन्दर्यानुभूति तथा कलात्मक प्रक्रिया की पौनःपुनिकता की ओर प्रवृत्त होना।

स्वच्छन्दतावाद और छायावाद में अन्तर

अंग्रेजी का स्वच्छन्दतावादी (Romantic) कवि सत्य और सौन्दर्य पर बल देता है, पर कतिपय छायावादी कवियों ने सत्यं-सुन्दरं के साथ शिवं को मिलाकर, काव्य में सत्यं-शिवं-सुन्दरं का सामंजस्य करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध कवि कीट्स ने सौन्दर्य को सत्य और सत्य को सुन्दर मानकर दोनों का अभेद सिद्ध किया है। वह जगत में सत्य और सुन्दर के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानना चाहता।[2]

किन्तु छायावादी 'पन्त' इतने से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं :

जग-जीवन में जो चिर महान् सौन्दर्य पूर्ण और सत्यप्राण,
मैं उसका प्रेमी बनूं नाथ ! जिसमें मानव-हित हो समान।

'पन्त' प्रार्थना करते हैं कि "हे नाथ सौन्दर्य और सत्य से भरी जो महती शक्ति है उसके द्वारा मानव-हित की भावना जागृत कर सकूँ।"

---

१. **डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।**
2. Beauty is Truth, Truth is Beauty, That is all.
Ye need to know on this earth. —John Keats.

अर्थात् सुन्दर और सत्य को शिव से सम्मिलित कर जीवन को पूर्णता की ओर अग्रसर करना छायावादी कवि का उद्देश्य है।

छायावादी और रहस्यवादी गीत में साम्य

(१) दोनों के गीतों में स्थूल जगत् के दृश्य पदार्थों से एक प्रकार की उपेक्षा पाई जाती है। उनकी दृष्टि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् की ओर अधिक रहती है। (२) ये गीत प्रायः बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों की बातें करते हैं। (३) बाह्याकृति का वर्णन भी ऐसे ढंग से मिलता है कि प्रकृति के पदार्थों का मानवीकरण करके उनको मानवी भावों से अनुप्राणित किया जाता है। (४) दोनों में वर्ण्य विषय का वायवीकरण (Etherealisation) पाया जाता है। झरना केवल जलराशि को प्रवाहित करने वाला नहीं, वह अपनी कल-कल, छल-छल ध्वनि से हमारे कानों में कोई रहस्यमय बात कह जाता है। (५) दोनों में प्रकृति और मानव का एकीकरण मिलता है।

छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर

१. रहस्यवाद में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और आध्यात्मिक अनुभूति छायावाद की अपेक्षा अधिक गहन और सान्द्र होती है।

२. अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जब तक काल्पनिक और प्रयोगावस्था में रहती है, तब तक छायावाद की सीमा के अन्तर्गत होती है किन्तु जब वास्तविक बनकर जीवन में ओत-प्रोत हो जाती है तो छायावाद की सीमा लाँघकर रहस्यवाद के घेरे में पहुँच जाती है।

३. रहस्यवादी और छायावादी गीतों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि प्रथम में क्रमागत किसी न किसी साम्प्रदायिकता या साधना-पद्धति का अनुसरण पाया जाता है किन्तु दूसरी में सभी परम्पराओं से विद्रोह छिपा रहता है।

४. रहस्यवादी गीतों में प्रत्यक्ष मानव-जीवन के सुख-दुखों से एक प्रकार का निर्वेद निहित होता है किन्तु छायावादी गीतों में उनके प्रति उपेक्षा नहीं है।

५. रहस्यवादी कवि दृश्य जगत् को आध्यात्मिकता में असत्य, और व्यावहारिकता में सत्य बताकर संसार से मुख मोड़ लेता है। वह तो "भोगैश्वर्य[1] में संलग्न और उसके कारण अपहृत बुद्धि वाले प्राणी को समाधि के अयोग्य" ठहरा कर भोग और ऐश्वर्य की निन्दा करेगा किन्तु छायावादी इस जीवन-दर्शन को स्वीकार नहीं करता। वह "दैन्य-प्रपीड़ित, तिरस्कार-प्रताड़ित, भोगैश्वर्य से

---

१. भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

प्रसक्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र" का भौतिक विकास भी चाहता है और मानवता का उन्नयन भी।

६. रहस्यवादी केवल उस पारमार्थिक "शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा संपृक्त रहता है जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं" किन्तु छायावादी की दृष्टि उस भौतिक सत्ता की ओर भी रहती है जिससे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में समय-समय पर उत्थान के लिए आन्दोलन उठा करते हैं।

७. रहस्यवादी आप्त वाक्यों, श्रुति-स्मृतियों का आधार लेकर अपनी आध्यात्मिक अनुभूति अभिव्यक्त करता है, किन्तु छायावादी भावना के क्षेत्र में स्वतंत्र विचरता है। वह किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार करने को उद्यत नहीं।

८. रहस्यवादी के अध्यात्मपरक विश्लेषण के अनुसार एक चैतन्य आनन्दघन शक्ति से प्रकृति की समस्त शक्तियाँ उद्भूत होती हैं। वह सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र की सृष्टि उसी चैतन्य शक्ति से अग्निस्फुलिंग के समान मानता है किन्तु "छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है।"[1]

९. रहस्यवादी विभु की व्यापकता पर मुग्ध होकर उसकी सौन्दर्याभि-व्यक्ति के लिए प्रकृति का सहारा लेता है, पर छायावादी प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसके सौन्दर्य का कारण ढूँढ़ता है। प्रथम का लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार है दूसरे का सौन्दर्यानुभूति।

१०. रहस्यवादी अपने काव्य के लिए मुख्यतया ज्ञान और तर्क का आश्रय लेता है, किन्तु छायावादी अपने मनोभावों और मनोवेगों को एकमात्र प्रमाण मानता है।

छायावादी और रहस्यवादी गीतों की तुलना से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "हमारा नया काव्य अपनी स्वतंत्र दार्शनिकता के साथ ही अपनी भावभूमि और अनुभूति-क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती काव्य से पृथक् सत्ता रखता है।"[2]

छायावादी गीतों का वर्गीकरण

छायावादी प्रेम-गीतों की पद्धति भक्तिकाल तथा रीतिकाल से सर्वथा भिन्न है। छायावादी प्रेम और सौन्दर्य के वर्णन में मानसिक पक्ष को अधिक महत्व देता है।[3] "उसके सौन्दर्य-वर्णन में स्थूलता नहीं वरन् एक वायवी (Ethereal)

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३२३

२. नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३२४

३. गुलाबराय—काव्य के रूप, पृष्ठ १४२

दिव्यता[1] है और प्रेम आक्रमण के रूप में न रहकर आत्मनिवेदन का रूप धारण कर लेता है।"

२. **आध्यात्मिक प्रेम-गीत** : यद्यपि आध्यात्मिक[2] मिलन-विरह के गीत मुख्य रूप से रहस्यवादी कवियों में ही पाए जाते हैं किन्तु कतिपय छायावादी कवि भी इस प्रकार के गीत रचते रहते हैं।

३. **जीवन-मीमांसा-सम्बन्धी गीत** : भावुकता का प्राधान्य होने पर भी छायावादी गीतों में जीवन के आदर्श, विश्व-वेदना तथा व्यक्तिगत सुख-दुख की मीमांसा पाई जाती है।

४. **प्रकृति-सम्बन्धी गीत** : छायावाद का सबसे अधिक यथार्थ रूप प्रकृति-सम्बन्धी गीतों में निखरा है। छायावादियों ने प्रकृति का वर्णन केवल उद्दीपन के रूप में नहीं किया है। उन्होंने प्राकृतिक पदार्थों का मानवीकरण करके उन पर अपने हृद्गत हर्ष, शोक, प्रेम-प्रीति, दया-करुणा, हास्य-रोदन आदि का आरोप किया है।[4]

५. **राष्ट्रीय गीत** : छायावादी राष्ट्रीय गीतों में संकीर्णता के स्थान पर व्यापकता है। वह देश की स्वतन्त्रता विश्वमंगल के लिए चाहता है, किसी का अमंगल करने को नहीं। प्रसाद के कई राष्ट्रीय गीत इसी कोटि में आते हैं। उनका कार्नेलिया द्वारा गाया हुआ गीत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' हिन्दी

---

१. तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों ? —प्रसाद

२. वे स्मृति बनकर मानस में खटका करते हैं निशदिन।
उनकी निष्ठुरता को जिससे मैं भूल न जाऊँ॥
—महादेवी

३. तप रे मधुर-मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल और कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन। —पन्त

४. ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के।
बुलबुले सिन्धु के फूटे नक्षत्र मालिका टूटी,
नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी। —प्रसाद

साहित्य का अमूल्य रत्न माना जाता है।

हम रहस्यवाद और छायावाद का साम्य-वैषम्य दिखा आए हैं। रहस्यवादी गीतों का वर्गीकरण कर देने से दोनों का अन्तर और भी स्पष्ट हो जाएगा। रहस्यवादी गीतों को मुख्य रूप से पाँच वर्गों में बाँटा गया है :

१. दाम्पत्य प्रेम-सम्बन्धी गीत : इसमें कबीर के स्त्री-सम्बन्धी रूपक और मीरा के प्रेमसूचक गीत माने जाते हैं।

२. ज्ञान-प्रधान गीत : दादू, कबीर के गीत इस कोटि में आते हैं। 'प्रसाद' के कई गीत इसी वर्ग में माने जाते हैं।

३. साधनात्मक गीत : गोरख और कबीर के योग-साधना के गीत इस कोटि में आते हैं।

४. भक्ति-सम्बन्धी गीत : शुक्ल जी तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों के गीतों में रहस्यवाद नहीं मानते, किन्तु आधुनिक आलोचकों ने अवतारी पुरुषों के चरित्र को भी रहस्यमय मानकर तत्सम्बन्धी गीतों को रहस्यवाद की संज्ञा दी है। कृष्ण-भक्तों के वे गीत जो दाम्पत्य या सखी-भावना की अभिव्यक्ति करते हैं, रहस्यवाद के अन्तर्गत ही माने जा सकते हैं।

५. प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद : इसमें प्रकृति द्वारा परमात्मा की अनुभूति की जाती है। रहस्यवादी के लाल[1] की ही लाली सारे विश्व में व्याप्त होती है। छायावादी प्राकृतिक पदार्थों में एक प्रकार का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाता है। वह प्रकृति को व्यक्ति बनाकर उसमें मानवी भावों का दर्शन करता है, किन्तु रहस्यवादी प्रकृति में परमब्रह्म की छटा का दर्शन करता है।

प्रगतिवाद

छायावादी गीतों में प्रारम्भ से ही दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ीं। कई साधक कवि सौन्दर्य-दर्शन के लिए सतत चिन्तनशील थे। किन्तु दूसरे कोरी कल्पना के द्वारा कविता के साथ खिलवाड़ कर रहे थे। इसी दूसरी प्रवृत्ति के कवियों की निरंकुशता पर शुक्ल जी और महावीरप्रसाद द्विवेदी असन्तोष प्रकट करते थे। जहाँ प्रथम प्रवृत्ति के कवियों ने छायावादी काव्य का शृंगार किया वहाँ दूसरी प्रवृत्ति वालों ने छायावाद का उपहास भी कराया।

यह प्राकृतिक नियम है कि काव्य की कोई भी शैली चाहे कितनी ही सुन्दर एवं गुण-विशिष्ट क्यों न हो, सतत परिवर्तित समाज की तृप्ति नहीं कर पाती।

---

१. लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥ —कबीरदास

छायावादी कवियों के वर्ण्य विषय की संकीर्णता, भावों की अत्यन्त सूक्ष्मता, जीवन से असम्बद्धता देखते-देखते, उनकी टूटी वीणा के अटपटे गीत सुनते-सुनते एक वर्ग को अत्यन्त अरुचि उत्पन्न हो गई। उन्होंने छायावाद का प्रतिवाद किया और देश में भुखमरी, कंगाली, समाज में घोर विषमता देखते हुए भी कल्पना लोक में विचरण करने वाले पलायनवादी कवियों की भर्त्सना करनी प्रारम्भ की। तात्पर्य यह कि छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में कृषक-मजदूरों, शोषित-पीड़ितों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाला प्रगतिवादी वर्ग (Progressive) उठ खड़ा हुआ। उसे मार्क्सवाद का सहारा मिला, रूसी क्रांति का इतिहास मिला, लाल झंडा और लाल सेना का आश्रय दिखाई पड़ा।

छायावाद और प्रगतिवाद का अन्तर

छायावाद यदि गांधीवाद की अहिंसा और विश्वबन्धुत्व के सहारे हृदय की कोमलता और सहिष्णुता लेकर उठ खड़ा हुआ था तो प्रगतिवाद, मार्क्सवाद की निर्भय क्रांति, संकीर्णता, कठोरता का अस्त्र लेकर दौड़ पड़ा। यदि छायावाद ने अन्तर्मुखी वृत्ति के सम्मुख बहिर्मुखी को उपेक्षित किया तो प्रगतिवाद ने बहिर्मुखी वृत्ति के सम्मुख अन्तर्मुखी कोमल वृत्तियों को तिरस्कृत किया।

छायावाद ने आदर्शवादिता की ओर हाथ बढ़ाया तो प्रगतिवादियों ने उस यथार्थवाद से समझौता किया, जिसमें समाज के नग्नचित्र भी प्रशंसनीय माने जाते हैं।

प्रेम-गीत

प्रेम-गीत दोनों कवियों में प्राप्त होते हैं, किन्तु उनकी शैली में अन्तर है। "छायावादी प्रेम-गीतों में एक विशेष सूक्ष्मता, सांकेतिकता, साधना और आत्म-समर्पण की भावना है।" किन्तु "प्रगतिवादी प्रेम-गीत अधिक स्थूल, अपेक्षाकृत निरावरण और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह-भावना से मिश्रित रहते हैं। इसमें स्वयं मिट जाने की अपेक्षा मिटा देने की भावना अधिक है।"

छायावादी और प्रगतिवादी गीतों में अन्तर

छायावादी कविता में यदि वायवी स्वप्निल वातावरण है तो प्रगतिवादी में विस्फोटक। छायावाद में यदि सुकुमार कुसुमों पर चलकर बलिदान की भावना है तो प्रगतिवादी में तलवार की धार पर दौड़कर शत्रु को पछाड़ने का आमन्त्रण है। जिन प्रगतिवादी गीतों में भावुकता की माधुरी है वे कलायुक्त होकर जनप्रिय हो गए हैं। प्रगतिवादी गीतों के मूल विषय ये हैं: (१) किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति (२) रूस, मास्को और लालसेना

का यशमान (३) उन्मुक्त प्रेम (४) मार्क्सवाद का समर्थन (५) विश्व के शोषित वर्ग की एकता।

बंगाल का अकाल

आधुनिक युग में भुखमरी के कारण तड़पकर मरने वाला सबसे बड़ा जन-समुदाय बंगाल में दिखाई पड़ा। पूँजीपतियों की शोषण-वृत्ति तथा चोरबाजारी के घृणित व्यवहारों की अमानुषिक लीला का इससे बढ़कर तांडव कभी देखा नहीं गया था। इस घोर कुकृत्य ने जनता को पूँजीपतियों का शत्रु बना दिया। प्रगतिवाद को सबसे बड़ा आश्रय इस काण्ड से मिला।

प्रगतिवादी का काव्यालंबन

छायावादी कवि ने अपने काव्य के आलम्बन के लिए केवल कोमल, सुन्दर, मनोरम, गौरवपूर्ण एवं महत् का आश्रय लिया। उसने कठोर, कुरूप, अनगढ़, घृणित एवं लघु को तिरस्कृत किया। प्रगतिवादी ने इस भेद-भाव का विरोध किया। उसने सुन्दर-संस्कृत की अपेक्षा कुरूप और असंस्कृत को अधिक अपनाया। उसका तर्क यह है कि जीवन की वास्तविकता को देखते हुए हम कुरूप और लघु को अपने अधिक निकट पाते हैं। सुंदर और मनोरम तो कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं। उसको जेठ की दुपहरी में खुले आकाश की बरसती हुई आग में बैठकर पत्थर[1]

---

१. **वह तोड़ती पत्थर**
× × ×
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम-तन, भर-बँधा यौवन,
नत-नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ;
करती बार-बार प्रहार
× × ×
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
× × ×
गर्द चिंगारी छा गई;
प्रायः हुई दुपहर—
वह तोड़ती पत्थर

तोड़नेवाली भूखी युवती के हथौड़े-युक्त कर राजप्रासाद की कोमल कुसुम शैया पर आसीन राजरानी के वीणा के तारों को झंकृत करनेवाले हाथों से काव्य के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। "दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता" ऐसा भिखारी भी काव्य-नायक बनने लगा।

जीवन-दर्शन

आचार्य हजारीप्रसाद के विचारानुसार प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन इस प्रकार है : (१) संसार-स्वरूप भौतिक है, वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्त्त या परिणाम नहीं है। (२) उनकी प्रत्येक अवस्था की व्याख्या की जा सकती है। × × प्रगतिवादी साहित्यिक रहस्यवाद को अविश्वसनीय, भाग्यवाद को ढकोसला समझता है। (३) आर्थिक विधानों का परिवर्तन होने से समाज के रूप का परिवर्तन होता है, और समाज के रूप के परिवर्तन से सामाजिक मान्यताएँ बदलती हैं। अतः प्रगतिवादी कवि नवीन मान्यताओं को दृष्टि में रखकर वास्तविक जीवन के साथ काव्य का सम्बन्ध जोड़ता है। (४) प्रगतिवादी साहित्यिक "समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी वस्तु को अज्ञेय नहीं समझता तथा किसी अज्ञेय-अलक्ष्य-चिरंतन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता।" (५) प्रगतिवादी का लक्ष्य है वर्गहीन समाज की स्थापना।

प्रगतिवादी साहित्यकार के दो वर्ग

इस जीवन-दर्शन को मानने वाले साहित्यकारों के दो वर्ग हैं : (१) कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध साहित्यिक (२) स्वतन्त्र साहित्यिक।

प्रथम वर्ग पार्टी की नीति का पूर्णतया अनुसरण करता है। और प्रायः उसके अंगुलि-निर्देश पर रचना करता है। राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशचन्द्रगुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा और भगवतशरण उपाध्याय जैसे चिन्तनशील आलोचक; यशपाल और रांगेय राघव जैसे उपन्यासकार; अमृतराय जैसे कहानी लेखक और शिवमंगलसिंह तथा नागार्जुन जैसे कवि इसी वर्ग के प्रमुख साहित्यकार हैं।

दूसरा वर्ग स्वतन्त्र प्रगतिवादियों का है। ये लोग मार्क्स के सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था नहीं रखते। ये लोग स्वाधीन चिन्तन के बल से मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को देश-काल के अनुरूप बनाकर अपना जीवन-दर्शन निश्चित करते हैं। रघुवंश, धर्मवीर भारती, शम्भुनाथसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह और नामवरसिंह इस कोटि में आते हैं।

प्रगतिवाद का मनोवैज्ञानिक निदर्शन

प्रगतिवाद के मूल में प्रगतिशील चेतना काम करती है। प्रगतिशील चेतना बुद्धि के सतत विकास पर निर्भर रहती है। बुद्धि को सदा प्रेरणा देने वाले कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य ऐसे हैं जो शाश्वत हैं। उनमें कतिपय का उल्लेख नंददुलारे वाजपेयी के विचारानुसार इस प्रकार किया जा सकता है। (१) "बाह्य संघर्ष से बौद्धिक संघर्ष अधिक शक्तिशाली होता है। (२) शृंगारोन्मुख प्रवृत्तियाँ जब सीमोल्लंघन करने पर तुल जाती हैं तो असह्य हो जाती हैं। (३) वास्तविक जीवन से दीर्घ काल तक पराङ्मुख नहीं रहा जा सकता। (४) केवल कौतूहलमय काव्य अधिक काल तक समाज को सन्तुष्ट नहीं रख सकता। (५) केवल मनोरंजन जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। (६) जीवन-विघातिनी कला अपने ही हाथों अपना सर्वनाश करती है।"

प्रगतिवाद का भविष्य

कई प्रमुख आलोचकों का मत है कि प्रगतिवाद की वर्तमान धारा प्रचार की बालुकाराशि में किसी न किसी दिन विलीन हो जाएगी। वे कहते हैं कि प्रगतिवादी जीवन के मूल्यांकन में प्रथम दोष यह है कि वह "साहित्य और पैदावार का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे रोटी-पानी या जीवन के सामयिक प्रश्नों को हल करने का सीधा साधन मानकर बहुत ही सस्ता बना देता है। (२) साहित्य का लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि है, केवल पेट की ज्वाला शान्त करना नहीं। प्रयोगवादी कविता जीवन के इस शाश्वत धर्म की उपेक्षा करके कबतक जीवित रह सकेगी, यह कहना बहुत कठिन नहीं। (३) जो साहित्य किसी पार्टी का प्रचार-साधन बनकर रह जाता है, उसका जीवन पार्टी के उत्थान-पतन के साथ बँधा रहता है। कोई भी साहित्य बन्धन में फँसकर विकासोन्मुख नहीं हो सकता। साहित्य का विकास-क्रम रुका कि वह निष्प्राण हुआ।

प्रयोगवाद

सामान्य रीति से प्रयोगवाद का अर्थ होता है काव्य-विषयक अन्वेषण और उस अन्वेषण के परिणामस्वरूप काव्य की शैली। प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि 'अज्ञेय' ने तारसप्तक की भूमिका में लिखा है: "दावा केवल यही है कि वे सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं,

राहों के अन्वेषी।" प्रयोगवादी कवियों का मत है कि जिस प्रकार हमारा जीवन गतिशील और सत्यान्वेषी है; पूर्ण सत्य की उपलब्धि होनी दुष्कर है, उसी प्रकार काव्य में भी अन्वेषण ही सम्भव है, पूर्ण सत्य तक पहुँचना सम्भव नहीं।

हम पूर्व कह आए हैं कि छायावाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई उसके फलस्वरूप मार्क्सवाद से प्रभावित एक वर्ग प्रगतिवाद की ओर झुका; किन्तु दूसरा वर्ग किसी भी राजनीतिक, धार्मिक या साहित्यिक सिद्धान्त को स्वीकार न कर अन्वेषण की ओर उन्मुख हुआ। इस वर्ग के लोगों ने अपनी कविता का नाम प्रयोगवाद रखा। प्रयोगवादियों का ध्येय सभी राजनीतिक वादों के बन्धनों से मुक्त रहकर काव्य के विषय और मंडन-शिल्प को नित्य नवीन प्रयोगों के आधार पर आधुनिक युग के सामाजिक जीवन के अनुकूल बनाना है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

इन दोनों वादों की सीमा के मध्य कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन कार्य है, क्योंकि कई प्रगतिवादी कवि काव्यमंडन-शिल्प को उत्तरोत्तर विकसित करने के लिए सतत सतर्क होकर प्रयोग कर रहे हैं और कई प्रयोगवादी साम्यवाद के प्रभावों से प्रभावित होकर विषय-चयन करते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि जहाँ प्रगतिवादी वर्गहीन समाज की सृष्टि के उपयुक्त वर्ण्य विषयों को प्रधान महत्व देता है वहाँ प्रयोगवादी कवि शैली में नित्य नये प्रयोग को प्राथमिकता प्रदान करता है। प्रगतिवादी काव्य कला के शृंगार को अनावश्यक मानकर प्रभावशाली शैली को ढूँढ़ने का प्रयास करता है किन्तु प्रयोगवादी सौन्दर्य के नये प्रसाधनों, नये प्रतीकों, नये उपमानों आदि के अनुसन्धान में लगा रहता है।

प्रयोगवाद के स्पष्ट स्वर

प्रयोगवाद की सबसे बड़ी विशेषता है चिन्तनशीलता। "स्वयं कविता भी इनके चिन्तन का विषय" बन गई है। भवानीप्रसाद मिश्र की निम्नलिखित एक कविता है 'कमल के फूल'—

फूल लाया हूँ कमल के।
क्या करूँ इनका ?
पसारें आप आँचल
छोड़ दूँ;
हो जाय जी हल्का !
किन्तु होगा क्या कमल के फूल का ?

ये कमल के फूल
लेकिन मानसर के हैं,
इन्हें हूँ बीच से लाया
न समझो तीर पर के हैं।

इस कविता में कमल 'काव्य' का पर्याय है। कविता-कमल का जन्म मानस से होता है। उत्तम कोटि का कवि कविता-कमल को मानस के मानसर से गहराई में उतर कर पा सकता है, तीर पर खड़ा होकर नहीं। फिर कवि सोचता है कि काव्य-कमल को गहराई में उतर कर लाया भी तो क्या? इससे किस प्रयोजन की सिद्धि हुई? फिर वह उत्तर देता है कि पाठकों के उर-अंचल को पुष्प से भर देने में ही इसकी सार्थकता है।

इसी प्रकार का एक और गीत है :

जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह तरह के गीत बेचता हूँ;
मैं सभी किसिम के गीत बेचता हूँ,
जी, लोगों ने तो बेच दिए ईमान।
जी, आप न हों सुनकर ज्यादा हैरान।
मैं सोच-समझ कर आखिर अपने गीत बेचता हूँ;
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ॥

◇ ◇ ◇

जी, गीत जन्म का लिखूँ, मरण का लिखूँ।
जी, गीत जीत का लिखूँ, शरण का लिखूँ॥
कुछ और डिजायन भी हैं, ये इल्मी—
ये लीजे चलती चीज नई, फिल्मी॥

प्रयोगवादी कवियों में शमशेरबहादुर सिंह ऐसे हैं जिनकी कविताओं में "प्यार की मस्ती, प्रकृति की विविध भाव-भंगिमा, साथ ही शहीदों और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वालों के प्रति सहानुभूति बिखरी पड़ी है। एक ओर मन की मस्ती, दूसरी ओर विद्रोही हृदय—ये दो विरोधी गुण इनकी कविताओं में एक साथ खिल उठे हैं।" विश्व के उन्नत देशों के सर्वश्रेष्ठ स्थानों का उल्लेख करते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं :

मुझे अमेरिका का लिबर्टी स्टैचू
उतना ही प्यारा है, जितना मास्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग के स्वर्गीय महल

मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मेरी देहली में प्रह्लाद की तपस्याएँ
दोनों दुनियाओं की चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं।

प्रयोगवादी कवियों में अज्ञेय का विशिष्ट स्थान है। उनके चार कविता-संग्रह प्रकाशित हैं: (१) भग्न दूत (२) चिंता (३) इत्यलम् और (४) हरी घास पर क्षण भर।

इन रचनाओं की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन्होंने ईश्वर, प्रकृति और प्रेम जैसे महत्वपूर्ण विषयों के साथ-साथ दीप, घट, माँझी, सैनिक आदि सामान्य विषयों पर भी लेखनी चलाई है। कहा जाता है कि प्रयोगवादी छोटी से छोटी वस्तु की आत्मा में प्रवेश करने का प्रयास करता है। प्रमाण के लिए अज्ञेय की निम्नलिखित कविता देखिए:

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशि की शान्ति है निस्सार
निकटतर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव
धैर्य धन गदहा।

प्रयोगवादी कवियों में गिरजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती ने प्रेम और वासना-सम्बन्धी कई गीत लिखे हैं। "गिरजाकुमार की प्रेम-भावना यद्यपि लौकिक, स्थूल और स्वाभाविक ढंग की रही है; किन्तु शैली पर कहीं-कहीं छायावादी कवियों की छाप है।" धर्मवीर भारती ने प्रणय-सम्बन्धी जो गीत लिखे हैं उनमें 'गहरी भावुकता और मौलिकता, जीवन की स्वच्छन्दता और अकृत्रिमता, लोक-जीवन की गूँज और मर्यादा, वासना की तीव्रता और उष्णता—कला पर एक प्रकार की रीतिकालीन छाप और उर्दू कविता की नाजुकखयाली का प्रभाव है।"

प्रयोगवादियों की कविताओं में संबोध गीति (Odes) की पद्धति अधिक प्रचलित हो गई है। इन कविताओं में कवि किसी "वस्तु-विशेष को सम्बोधन करके उसके सम्बन्ध में अपने विचारों और भावों, चित्रों और कल्पनाओं की व्यंजना करते हैं।" इस शैली के गीत 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त' आदि कवियों ने भी लिखे हैं। प्रयोगवादी सम्बोध गीति (Odes) का एक उदाहरण देखिए:

आकाश !

सुना है, तुम दिगंत व्यापी विभूतियों के स्वामी हो विभापुंज
हे महाशून्य !
तुम धारण करते हो गीतों का अमृत-कोष
हे गहन नील के ज्योतिः कण !
तुम लक्ष-लक्ष दीपों का लेकर स्नेह
जल रहे हो अनादि से इसी भाँति ।
मेरे हाथों में रिक्त पात्र—
यह है धरती का हृदय—
इसे भरने को निकला मैं अधीर !
तुम व्यर्थ हो रहे भीत, तुम्हारी अटल शांति
चिर से नमस्य, चिर से प्रणम्य !
यह रिक्त पात्र भरने को दौड़ी चली आ रही
विश्वदेव की करुणा की मधुमयी क्रान्ति
जय हो धरती के कण-कण की
मैं मानव का उच्छ्वास बोलता हूँ !

—केदारनाथ 'प्रभात'
(अवन्तिका—अप्रैल १९५४)

छायावाद और प्रयोगवाद में अन्तर

छायावादी कवि का प्रधान संबल है प्रतीक-विधान । वह प्राकृतिक पदार्थों में से अपने उपयोग के अनुकूल प्रतीक ढूँढ़ लाता है और उन्हीं के आधार से अपनी कुंठाओं को व्यक्त करता है । उसकी इस अभिव्यक्ति में सहजभाव रहता है, उलझन नहीं । किन्तु प्रयोगवादी कवि अवचेतन (Subconsciousness) विज्ञान का उपयोग करने की चेष्टा में पड़कर अपनी कुंठाओं को घुमा-फिराकर बताना चाहता है ।

जहाँ छायावादी कवि पाठक को अपने अभिप्रेत भाव का संवेदन कराना चाहता है, वहाँ प्रयोगवादी कवि किसी भाव या उसके एक अंग को या किसी विचार के एक अंश को पाठक के मन में जागृत मात्र कर देना चाहता है ।

छायावाद में भावनाओं की रंगीनी, कल्पना की ऊँची उड़ान, भावों की तरलता पाई जाती है, किन्तु प्रयोगवाद में उनके स्थान पर ठोस बोझीले

बुद्धि-वैभव का विलास। प्रयोगवाद में बौद्धिक तत्वों का प्राचुर्य है किन्तु ये कविताएँ दार्शनिक चिन्ता-धारा को लेश भी अग्रसर नहीं कर पातीं। डा० नगेन्द्र का मत है[1] कि "प्रयोगवादी कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएँ (Intellectual Concepts) हैं जो प्रायः विज्ञान, राजनीति शास्त्र, मनोविश्लेषण शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।"

प्रयोगवाद की भाषा-शैली

प्रयोगवादी कवि की सबसे बड़ी समस्या अपने व्यक्तिगत विचारों को समष्टि तक पहुँचाने के वाहन की है। वह शब्दों के साधारण अर्थ को अनुपयुक्त पाकर उनमें अपने अनुकूल अर्थ भरना चाहता है। उसके विचार से "साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं, अतएव वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुली फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।"

इस प्रयोग में वह भाषा की समास एवं व्यंजना-शक्ति को इतना बोझिल कर देता है कि शब्द की अर्थ-शक्तियाँ दबकर सिसकने-सी लगती हैं। प्रयोगवादी कवि जब शब्द-शक्तियों को भार के नीचे इतना झुकते हुए देखता है कि उसके विचारों की शीशे की मंजूषा के गिरकर टूटने का उसे भय होने लगता है तो वह सहारे के लिए "विराम संकेतों, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे-उलटे अक्षरों" को पकड़-पकड़ कर ले आता है।

छन्द-विधान

प्रयोगवादी कवियों ने सबसे अधिक विद्रोह प्राचीन छन्द-योजना के प्रति दिखाया है। वे वार्णिक, मात्रिक छन्दों को काव्य से सर्वथा बहिष्कृत करने का प्रयोग कर रहे हैं। उन्होंने अपने छन्द को मुक्त छन्द की उपाधि दी है जिसमें तुक अंत में नहीं, कहीं पंक्ति के मध्य में आ जाता है। तुक का कार्य है लय को समृद्ध करना। प्रयोगवादी प्रयास करता है कि वह अपने शब्द-चयन के कौशल से काव्य में गद्यमयता के स्थान पर संगीतात्मकता को आसीन कर सके।

---

१. डा० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ११७

सातवाँ अध्याय

नाटक

(भारतीय आचार्यों के मत से)

इन्द्रियों की मध्यस्थता के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य वह है जिसका आनन्द कानों द्वारा लिया जाता है और दृश्यकाव्य वह है जिसका आनन्द मुख्यतया आँखों द्वारा प्राप्त होता है। दृश्यकाव्य को श्रव्यकाव्य की भाँति उपयोग में ला सकते हैं, किन्तु श्रव्यकाव्य को दृश्यकाव्य की भाँति सरलता से नहीं। प्रदर्शन की प्रधानता के कारण दृश्य-काव्य काव्य के दूसरे भेदों से सर्वथा भिन्न और अद्भुत है। भारतीय वाङ्मय में दृश्यकाव्य का विशेष महत्व माना जाता है। श्रव्यकाव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य का क्षेत्र मर्यादित है तो भी रसास्वाद और प्रभाव की दृष्टि से दृश्यकाव्य का स्थान श्रव्यकाव्य से ऊपर है। श्रव्यकाव्य का पूरा आनन्द जन साधारण नहीं उठा सकते क्योंकि वह विद्वत्समाज की वस्तु है किन्तु दृश्यकाव्य जनता की वस्तु है।

दृश्यकाव्य के लिए आदि नाट्याचार्य मुनि भरत ने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग किया है। नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से हुई। नट् धातु अनुकरण अर्थ में है। दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का भी व्यवहार देखा जाता है। 'रूपक' शब्द का अर्थ है 'रूप का आरोप।'[1]

दशरूपककार धनंजय ने अवस्था-विशेष के अनुकरण को नाट्य कहा है।[2] अवस्था के इस अनुकरण को कविराज विश्वनाथ ने अभिनय कहा है। नटों की अवस्थाओं का यह अभिनय चार प्रकार का है: आङ्गिक, वाचिक, आहार्य्य और सात्विक। इन चारों अवस्थाओं का समवेत रूप ही वस्तुतः नाटक की शुद्ध परिणति मानी जाती है।

आंगिक : आंगिक अभिनय में भ्रू, सिर, दृष्टि, हस्त, कटि, पद-चालन आदि की अनेक भंगिमाएँ, मुद्राएँ होनी चाहिएँ। नाटयशास्त्र में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

वाचिक : वाचिक में वाणी—उक्तियों के छन्द, स्वर, शैली, भाषा आदि

---

१. रूपारोपात्तु रूपकम् (सा० दर्पण)

२. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। (सा० दर्पण)

प्रकारों का अनुकरण किया जाता है।

आहार्य : आहार्य में तत्कालीन पात्रों की वेश-भूषा और अनुकार्य की प्रकृतिगत चेष्टाओं का अनुकरण होता है। आजकल बहुत-से नाटकों में वेश में इतना परिवर्तन कर देते हैं कि उस नाटक के प्रति आस्था ही समाप्त हो जाती है और उपहासास्पद हो जाता है।

सात्विक : सात्विक इसमें स्तम्भ, विवर्णता, स्वेद, रोमांच आदि सात्विक गुणों का उद्रेक होता है। वास्तव में प्रारम्भ के तीनों गुणों के रहते हुए भी जब तक सात्विक भावों का उद्रेक नहीं हो पायेगा तब तक अनुकर्ता अपने को अनुकार्य से अलग मानता रहेगा जिससे वास्तविक अभिनय न हो सकेगा। और न तो सामाजिक ही तादात्म्य रूप अपना सकेंगे।

भारतीय आचार्यों ने नाट्य के दो भेद किए हैं—रूपक और उपरूपक। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है, उपरूपकों में नृत्य-नृत्त आदि की। आंगिक अभिनय-प्रधान को 'नृत्य' कहते हैं। अभिनय रहित नाचने को 'नृत्त' कहते हैं।

रूपक के दस भेद किए गए हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन।

रूपक के दस भेदों के लक्षण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

नाटक : यह रूपक के सभी भेदों में मुख्य है। इसमें कथावस्तु प्रसिद्ध ऐतिहासिक, पौराणिक होनी चाहिए। पाँच संधियाँ होनी चाहिएँ। ५ से १० अङ्कों में वह विभाजित हो। नायक प्रख्यात वंश का राजर्षि हो; प्रतापी, धीरोदात्त हो। मुख्य रस केवल एक ही हो, शृङ्गार अथवा वीर। अन्य रस अंग रूप में हों। ४ या ५ ही पुरुष नायक के सहायक हों। अङ्कों का स्वरूप गोपुच्छवत् अर्थात् प्रारम्भ के अङ्क छोटे, मध्य के दीर्घ, फिर अन्त के छोटे हों। नाटक का इतना प्राधान्य हुआ कि रूपक के अन्य भेद भी 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के आधार पर सभी नाटक कहे जाने लगे। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का उदाहरण है।

भरत मुनि ने नाटक के लिए लिखा है :

पंचसंधि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यंगसंयुतम्,
षट्त्रिंशल्लक्षणो पेतमलंकारोपशोभितम्।
महारसं महाभोगमुदात्त रचनान्वितम्,
महापुरुष संचारं साध्वाचारं जनप्रियम्।
सुश्लिष्टसंधियोगञ्च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्,
मृदुशब्दातिपातञ्च कविः कुर्यात्तुनाटकम्।

नाटक के विषय में भरत मुनि का इतना सादर आग्रह है कि :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न वा योगो नाटके यन्न दृश्यते ।

प्रकरण : इसकी कथावस्तु कवि-कल्पित, लौकिक होती है। शृंगार रस अंगी होता है। नायक धीर, प्रशांत, धर्म, अर्थ और काम में निरत, कहीं ब्राह्मण, कहीं अमात्य, कहीं वणिक होता है। नायिका कुलीन कन्या या वेश्या होती है। शेष बातें नाटक की ही तरह हैं। मृच्छकटिक, मालतीमाधव, पुष्पभूषित इसके उदाहरण हैं।

भाण : इसमें धूर्तों और दुष्टों का चरित्र रहता है। कथानक कल्पित होता है। हास्य रस की प्रधानता होती है। इसमें नायक अपने अथवा दूसरे की अनुभव की बातें आकाश की ओर मुँह उठाकर कहता है और स्वयं ही उत्तर भी देता है। एक ही अंक में कथानक समाप्त होता है। 'लीला मधुकर' इसका उदाहरण है।

व्यायोग : इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है। स्त्रियाँ बिल्कुल नहीं या बहुत कम होती हैं। नायक धीरोद्धत होता है। कैशिकी वृत्ति वर्जित है। वीर रस प्रधान होता है। हास्य, शृंगार और शांत रस वर्जित हैं। इसमें अंक एक ही होता है। एक ही दिन की कथा वर्णित होती है। भास का 'मध्यमव्यायोग' उदाहरण है।

समवकार : इसकी कथा प्रख्यात होती है। विमर्श को छोड़कर सभी संधिया होती हैं। नायक धीरोदात्त होते हैं और उनकी संख्या १२ तक हो सकती है। वे देव तथा दानव दोनों होते हैं। अंक तीन होते हैं। वीर रस प्रधान होता है। कैशिकी वृत्ति वर्जित है। इसकी कथा ३६ घड़ी की होती है। विन्दु और प्रवेशक नहीं होते। प्रत्येक नायक को क्रिया का फल अलग-अलग मिलता है। इसका उदाहरण 'समुद्र मंथन' है।

डिम : इसकी कथा पौराणिक होती है। रौद्र रस प्रधान होता है। और रस सहायक होकर आते हैं। चार अंकों में विभाजित होता है। विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते। देव, गन्धर्व, राक्षस, यक्षादि १६ तक नायक होते हैं। कैशिकी वर्जित है। शांत, हास्य और शृंगार रस वर्जित हैं। भरत मुनि का 'त्रिपुर दाह' इसका उदाहरण है।

ईहामृग : इसमें प्रख्यात तथा कल्पित दोनों मिश्रित वृत्त होते हैं। कथा चार अंकों में विभक्त होती है। नायक और प्रतिनायक धीरोद्धत, नर या देव होते हैं। मृग की भाँति अलभ्य कामिनी की इच्छा का विषय होता है। शृंगार रस का प्राधान्य होता है। नायक प्रतिनायक में युद्ध की तैयारी होती है। युद्ध नहीं

हो पाता। प्रतिनायक का वध नहीं हो पाता। नायक को नायिका नहीं मिलती है और वह मरने से बच जाता है।

अंक : इसकी कथा प्रख्यात होती है; कवि उसे कल्पना द्वारा विस्तृत करता है। साधारण पुरुष नायक होता है। करुण रस की प्रधानता होती है। स्त्रियों के शोक का विशेष वर्णन होता है। वाचिक युद्ध होता है। बहुत-से निर्वेद वचन कहे जाते हैं। भारती वृत्ति होती है। 'शर्मिष्ठा ययाति' इसका उदाहरण है।

बीथी : इसकी कथा कल्पित होती है। यह भाण से मिलता-जुलता है। उत्तम, मध्यम या अधम कोई एक नायक होता है। अंक एक होता है। शृंगार रस तथा विनोद और आश्चर्यजनक बातों की प्रधानता रहती है। आकाश-भाषित की तरह उक्ति-प्रत्युक्ति होती है। मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। अर्थप्रकृतियाँ सभी होती हैं।

प्रहसन : इसकी कथा कल्पित होती है। हास्य रस की प्रधानता रहती है। निन्द्य लोगों की प्रधानता रहती है। तपस्वी, संन्यासी आदि नायक होते हैं। अन्त में उपदेश भी मिलता है।

उपरूपक

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और भाणिका।

उपरूपकों में 'नाटिका' प्रधान है। इसकी कथा कल्पित होती है। स्त्री पात्र अधिक होते हैं। प्रसिद्ध धीर-ललित नायक होता है। गायन की अधिकता होती है। नायिका राजकन्या, प्रगल्भा होती है। शृंगार रस प्रधान होता है। 'रत्नावली', 'विद्धशालभञ्जिका' इसके उदाहरण हैं। अन्य भेद भी इसी प्रकार लक्षण ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। विशेष उपयोगी न होने से यहाँ उनका विस्तार नहीं किया जाता।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि हमारे यहाँ एकांकी नाटकों का भी प्रचुरता से प्रचलन था। रूपक, उपरूपक के १०+१८=२८ भेदों में से १५ ऐसे हैं जो एकांकी हैं। आधुनिक आलोचकों का यह कहना कि भारत में एकांकी का प्रचलन नहीं था, सर्वथा भ्रामक है। एकांकी नाटक पहले उत्सवों पर सदा अभिनीत होते रहे हैं। हाँ, आजकल समय का अभाव तथा व्ययसाध्य नाटकों का प्रचलन कम होने के कारण एकांकी नाटकों का प्रचार अधिक हुआ है। भारतेन्दु जी के समय से ही छोटे-छोटे नाटकों के लिखने का क्रम चला था; उन्होंने स्वयं भी कई नाटक लिखे थे। प्रसाद जी ने भी कई छोटे नाटक लिखे,

पर वह सब प्राचीन शैली के ही हैं। आधुनिक एकांकी नाटकों पर अंग्रेजी साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। ड्राइंग रूमों की सजावट, पूरे पृष्ठ भर में सामग्रियों की तालिका आवश्यक अंग बन गई है। इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े समय में, थोड़े पात्रों के द्वारा इनका प्रभावोत्पादक सफल अभिनय हो रहा है। डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास आदि नाटककारों ने इस दिशा में बड़ा योग दिया है।

तत्व

नाटक के मुख्य तीन तत्व हैं: वस्तु, नेता और रस।[1] इन्हीं तत्वों पर विस्तार से विचार करने के अनन्तर भारतीय साहित्य में नाटकों के निर्दिष्ट रूप का ठीक-ठीक पता चलता है। इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और संवाद के विचार से वस्तु के कई भेद होते हैं। इतिवृत्त के विचार से वस्तु के तीन भेद हैं: प्रख्यात, कल्पित और मिश्रित।

अधिकारी या नायक के सम्बन्ध से वस्तु के दो भेद होते हैं: आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक 'अधिकारी'। अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली कथा 'आधिकारिक' कहलाती है। आधिकारिक कथा नाटक की मूलकथा होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी अन्य कथाएँ भी आती हैं जो गौण रहा करती हैं और विशेष स्थितियों में प्रसंगानुकूल आधिकारिक कथा की सहायता करती हैं। इसीलिए उन्हें 'प्रासंगिक' कथा कहते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं: बड़ी प्रासंगिक कथाएँ जो दूर तक चलती रहती हैं और छोटी-छोटी कथाएँ जो अवसर-विशेष पर आकर और मुख्य कथा की सहायता करके समाप्त हो जाती हैं। बड़ी कथा को 'पताका' और छोटी को 'प्रकरी' कहते हैं।[2] नाटक में मुख्य होता है उसका 'फल'। 'फल' को कथा का 'कार्य' मानते हैं। नाटक की समस्त रचना में यह 'कार्य' कई अवस्थाओं में दिखाई देता है। ये अवस्थाएँ पाँच होती हैं: आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल की प्राप्ति के लिए जो उत्सुकता होती है उसे 'आरम्भ' कहते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए जो अत्यन्त उत्सुकता-युक्त व्यापार होते हैं उन्हें 'यत्न' कहते हैं। जहाँ फल की प्राप्ति की संभावना तो हो किन्तु कुछ आशंकाओं से घिरी रहे, उसे 'प्राप्त्याशा' कहते हैं। विघ्न-बाधाओं के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति को 'नियताप्ति' कहते हैं।

---

१. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः। (दशरूपक)

२. सानुबन्ध पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। (दशरूपक)

जहाँ सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है वहाँ 'फलागम' होता है। फल-सिद्धि के साधनों के विचार से वस्तु का प्रयोजन भी पाँच भागों में विभक्त है। जिनके नाम हैं—बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। फल के प्रथम हेतु को 'बीज' कहते हैं। प्रारम्भ में इसका कथन बहुत छोटे रूप में होता है किन्तु आगे चलकर विस्तार होने पर वही नाटक में अनेक रूपों में फैलता है। जैसे बीज में बहुत बड़ा वृक्ष निहित है, वैसे ही यह बीज ही बड़ी कथा का विस्तार पाता है; अतः इसका लाक्षणिक नाम 'बीज' है। दूसरी कथा के विच्छिन्न हो जाने पर प्रधान कथा के साथ उसे जोड़ देने वाले हेतु को 'विंदु' कहते हैं। यह 'विंदु' उसी प्रकार फैला हुआ दिखाई देता है, जैसे जल पर तेल की बूँद। पताका और प्रकरी के लक्षण ऊपर बताए जा चुके हैं। इन पाँचों को अर्थप्रकृतियाँ कहते हैं। कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों को जोड़ने के लिए नाटकों में पंच संधियों का विधान किया जाता है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं : मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।

बीज और प्रारम्भ को मिलाने वाली संधि को, जिसमें बहुत-से रसों की कल्पना होती है, 'मुख' कहते हैं। जहाँ मुख संधि में उत्पन्न बीज कभी लक्षित और कभी अलक्षित रहता है, वहाँ 'प्रतिमुख' संधि होती है। जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इन दोनों के पारस्परिक प्रेम को जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया गया था, सुसंगता और विदूषक ने जान लिया, यह तो हुआ लक्षित और वासवदत्ता ने चित्र वाली घटना से उसका अनुमान मात्र किया, यह हुआ अलक्षित। जिस संधि में उपाय कहीं दब जाए और उसकी खोज करने को बीज का और भी विकास हो, उसे 'गर्भ' संधि कहते हैं। इसमें फल छिपा रहने के कारण यह नाम पड़ा है। जहाँ पर फल का उपाय पूर्ण विकसित हो जाए किन्तु बीच में शाप, क्रोध, विपत्ति के कारण विघ्न आ जाए तब 'विमर्श' या अवमर्श संधि कहते हैं। इसमें नियताप्ति और प्रकरी की संधि होती है। जहाँ एक ही प्रधान प्रयोजन में कार्य और फलागम के साथ-साथ सब प्रकार के अर्थों की समाप्ति हो जाती है, उसे 'निर्वहण' संधि कहते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारों से किया जाता है, तथापि तीनों के पाँच-पाँच भेद होते हैं। और वे एक दूसरे के सहायक या अनुकूल होते हैं।

अर्थप्रकृतियाँ वस्तु के तत्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से सम्बन्ध रखती हैं। स्पष्टता के लिए नीचे सारिणी दी जाती है :
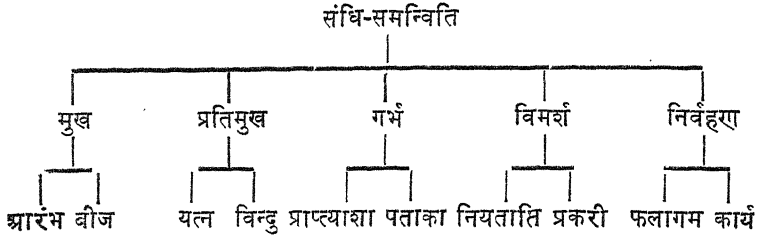
उपन्यास या प्रबन्धकाव्य में कथा को विस्तृत किया जा सकता है। पाठक कुछ घण्टे या कुछ अधिक दिन भी लगा सकते हैं। पर रूपक की कथावस्तु सीमित होती है। उसे लगभग तीन घण्टों में ही या नियत समय में समाप्त कर देना पड़ता है। अतः नाटककार समस्त कथावस्तु में से उन्हीं आवश्यक मार्मिक स्थलों का चयन करता है जो नायक-नायिका के चरित्र-चित्रण में सहायक हों, साथ ही रंगमंच पर कुशलता से निःसंकोच दिखाए जा सकें। इस प्रकार अभिनय के विचार से कथाएँ दो प्रकार की होती हैं : वाच्य और सूच्य।

वाच्य का विचार ऊपर हो चुका है। नाटक में ऐसी कथाएँ, जिनका उसके नाटक के उद्देश्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु कथा की अखंडता के विचार से जिनकी सूचना अवश्य दी जाती है, उन्हें 'सूच्य' या 'अर्थोपक्षेपक' भी कहते हैं। अर्थोपक्षेपकों के भी पाँच भेद होते हैं : विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख।

भूत और भविष्य की घटनाएं 'विष्कंभक' के द्वारा सूचित की जाती हैं और इसमें सूचक मध्यम श्रेणी का पात्र होता है। 'प्रवेशक' में भी विष्कंभक की ही तरह घटनाएँ सूचित की जाती हैं किन्तु यह सूचना नीच पात्र के द्वारा दी जाती है। नेपथ्य से जब किसी घटना की सूचना दी जाती है तो उसे 'चूलिका' कहते हैं। किसी अंक के अन्त में आगामी अंक में घटित होने वाली घटना की सूचना दे दी जाती है, उसे 'अंकावतार' कहते हैं। पिछले अंक में सूचना देने वाला पात्र जब अगले अंक में रंगमंच पर काम करता हुआ दिखाई देता है तो उसे 'अंकमुख' कहते हैं।

रंगशाला में कार्य करने वाले पात्रों के संवाद के विचार से कथा के तीन भाग किए गए हैं : सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य।

किसी पात्र की उक्ति को रंगशाला में उपस्थित यदि सब पात्र सुनें तो वह 'सर्वश्राव्य' है, यदि उनमें कुछ ही सुनें तो उसे 'नियतश्राव्य' कहते हैं। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह इस प्रकार कोई बात कहता है, मानो वह

किसी को सुनाना नहीं चाहता और न कोई उसकी बात सुनता ही है, ऐसे कथन को 'अश्राव्य', 'स्वगत' या 'आत्मगत' कहते हैं। 'नियतश्राव्य' के भी दो भेद किए गए हैं—जनांतिक और अपवारित। आधुनिक विचार के अनुसार नाटकों में स्वगत कथन कृत्रिम माना जाने लगा है, क्योंकि पात्र रंगशाला में उपस्थित होते हुए भी सुनी-अनसुनी करते हुए मान लिए जाते हैं। यद्यपि सामाजिक (दर्शक) दूर बैठे हुए भी सुन लेते हैं। यही बात नियतश्राव्य और उसके भेदों के विषय में भी है। आजकल सर्वश्राव्य को ही उचित माना जाने लगा। यदि स्वगत-कथन की आवश्यकता प्रतीत होती है तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की बात व्यक्त करता हुआ दिखाया जाता है, जब रंगमंच पर उसके अतिरिक्त कोई पात्र नहीं रहता। प्राचीन नाटकों में कहीं अनावश्यक पात्रों की न्यूनता के लिए 'आकाश-भाषित' की योजना पाई जाती है, जिसमें पात्र स्वयं ही प्रश्न भी करता है और उत्तर भी देता है। इसे भी कृत्रिमता के कारण आधुनिक नाटककारों ने त्याग दिया है। कथावस्तु के जितने भेदोपभेद उल्लिखित हैं, वे सभी नाटकों में थोड़े-बहुत अवश्य होते हैं। कोई नाटककार जान-बूझकर शास्त्रीय प्रक्रिया का विधान करेगा तो उसमें शास्त्र-सम्पादन की दृष्टि से कृत्रिमता परिलक्षित होने लगेगी। सफल नाटककार जब नाटक प्रस्तुत करता है तो स्वतः वे सारे नियम अपने आप घटित होने लगते हैं, जो शास्त्र-सम्मत हैं। भारतीय पद्धति पर जिनकी थोड़ी भी आस्था रही है, उनके नाटकों में इन तत्वों को समुचित स्थान मिला है।

अभिनय की रोचकता के विचार से पात्र-प्रवेश के ढंगों का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। प्राचीन नाटकों में सूत्रधार, नटी, स्थापक आदि अभिनेता नाटक के आरम्भ में आते थे। निर्विघ्न कार्य-समाप्ति की दृष्टि से नान्दीपाठ होता था।[1] तदनन्तर उनका परस्पर वार्तालाप होता था। कवि के गुण-कीर्तन के बाद नाटक प्रस्तुत करने का विचार होता था। ऋतु के अनुसार गायन के बाद यह बातचीत नाटक की मूल कथा से जोड़ी जाती थी।[2] इस प्रकार कथा के जोड़ने के प्रकारों की दृष्टि से प्रस्तावना के पाँच भेद माने जाते

---

१. **आशीर्वचनसंयुक्ता, स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।**
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥ (सा० दर्पण)
नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्त विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥ (सा० दर्पण)

हैं : उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। जहाँ अप्रतीतार्थ को व्यक्त करने के लिए और शब्द जोड़ दिए जाते हैं, वहाँ 'उद्घातक' प्रकार होता है। जहाँ सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण कर कोई पात्र प्रवेश करे, वहाँ 'कथोद्घात' होता है। यदि किसी प्रयोग के भीतर दूसरा प्रयोग आरम्भ हो जाए और किसी पात्र का प्रवेश हो तो उसे 'प्रयोगातिशय' कहते हैं। जहाँ समय के वर्णन के अनुसार पात्र का प्रवेश हो वहाँ 'प्रवर्तक' होता है। जहाँ सादृश्यादि के द्वारा किसी पात्र का प्रवेश सूचित हो, वहाँ 'अवगलित' होता है।

नाटक में वर्जित दृश्य

कुछ ऐसे कार्य हैं, जिन्हें मंच पर दिखाना वर्जित है। जैसे दूर से किसी को बुलाना, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलोत्सर्ग, मृत्यु, रति, दन्तच्छेद, नखच्छेद और इसी प्रकार की अन्य लज्जास्पद बातें, शयन, अधरचुम्बन, नगर पर घेरा डालना, स्नान, सुगन्धित वस्तुओं का प्रलेप और किसी प्रसंग का अति विस्तार।

यह विधान उस समय का है, जब रंगशाला में वैज्ञानिक साधन नहीं थे; या जिनके दिखाने से जनता में उद्वेग फैलता था। आजकल चलचित्रों में वे बहुत से कार्य दिखाए जाने लगे हैं, जो प्राचीन काल में वर्जित थे। नाटक में किसी साधारण पात्र का वध भी किया जाना उतना निषिद्ध नहीं है। हाँ, नायक का बध नहीं होना चाहिए। स्वर्गीय प्रसाद जी के नाटकों में ऐसे दृश्य आए हैं। 'अजातशत्रु' में सेनापति बन्धुल का वध हुआ है। तात्पर्य इतना ही है कि नाटक की मूल कथा में जिन दृश्यों के कारण कथा रुकती हो या जिनसे सामाजिकों के हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो; ऐसे दृश्यों को वर्जित किया गया है।

नेता

नाटक का दूसरा तत्व नेता है; यों तो नाटक में अनेक पात्र महत्व के होते हैं, उन्हीं के सहारे कथावस्तु का विस्तार होता है। यदि हम पात्रों के कथोपकथन आदि पर कुछ विशेष ध्यान न दें, तो भी हमें केवल वस्तु और चरित्र के विकास से ही नाटक की सब बातों का पता लग जाए और हम जान लें कि नाटक का कौन पात्र कैसा है। नाटक का कोई न कोई उद्देश्य होता है। कथावस्तु अन्त में उसी में परिसमाप्त होती है। भारतीय आचार्यों ने नायक और नायिका का विशेष रूप से विवेचन किया है। साथ ही किन्हीं विशेष गुणों से उन्हें सुसज्जित माना है। नायक को आचार्य धनंजय के अनुसार विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, लोकप्रिय, वाग्मी, कुलीन, स्थिरचित्त,

युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान, स्मृतिसम्पन्न उत्साही, कलाविद्, शास्त्रों का ज्ञाता, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार उसे सभी उच्च गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। नायक नम्र हो, किन्तु ऐसा नम्र न हो जो पददलित किया जा सके। भारतीय नाट्यशास्त्र के नायक की नम्रता दौर्बल्य की नहीं वरन् उच्च शील और संस्कृति की द्योतक है। इसलिए नम्रता के साथ स्वाभिमानी तथा तेजस्वी भी होना अनिवार्य है। प्रकृति-भेद से नायक चार प्रकार के कहे गए हैं: उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशान्त। इन विशिष्ट प्रकार के कहे नेता-वर्ग से यह प्रतीत होता है कि हमारी परम्परा आदर्श रही है। हम उन्हीं गुणों वाले व्यक्ति को नेता बनाएँगे, जिनकी छाप समाज के लिए कल्याणकारिणी हो। काव्य का उद्देश्य ही हमारी उदात्त भावनाओं को जागरूक करना है। आधुनिक भौतिक यथार्थवादी युग में ऐसे भी नायक होने लगे हैं, जिनसे हमारी प्राचीन परम्परा का मेल नहीं बैठता।

१. **उदात्त** : शक्ति-सम्पन्न, आत्मश्लाघा रहित, क्षमावान्, ऊर्जस्वी, हर्ष-शोक में समगति, विनीत, दृढ़व्रत, उदात्त नायक होता है। राम, युधिष्ठिर इसी श्रेणी के नायक हैं।

२. **उद्धत** : मायावी, प्रचण्ड, चञ्चल प्रकृति, अहंकार-दर्पपूर्ण, आत्मश्लाघी इन गुणों से युक्त नायक 'उद्धत' कहलाता है। इस श्रेणी में भीमसेन, परशुराम आदि आते हैं।

३. **ललित** : निश्चिन्त, सुकुमार, कलाविद् ललित कहलाता है। जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज।

४. **प्रशान्त** : नायकोचित सामान्य-गुणों के अतिरिक्त शान्त, प्रसन्न स्वभाव का नायक, 'प्रशान्त' कहलाता है। जैसे—'मालतीमाधव' में माधव, 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त आदि।

नायिका

नायक की प्रिया या पत्नी को 'नायिका' कहते हैं। आधुनिक नाट्यशास्त्र में यह आवश्यक नहीं है कि नायक की प्रिया या पत्नी ही नायिका हो। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जो स्त्री नाटकीय कथावस्तु के विकास में प्रधान योग दे, वही 'नायिका' कहलाएगी। परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक की प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायक के सामान्य गुण नायिका में भी आवश्यक हैं। नाट्याचार्य भरतमुनि ने नायिकाओं के चार भेद गिनाए हैं: दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका। परन्तु ये भेद न तो सर्वमान्य ही हुए

और न विशेष प्रचलित ही। नायिका के मुख्य तीन भेद सर्वमान्य हैं। धनंजय ने भी इसे ही माना है : स्वकीया, परकीया और सामान्या। इनके अनेक भेदोपभेद हैं, जिनका वर्णन यहाँ अप्रासंगिक होगा।

प्राचीन नाटकों में नायिका को प्रधानता नहीं मिलती रही, ऐसा प्रतीत होता है। आधुनिक नाटकों में नायिका को भी फल-प्राप्ति की अधिकारिणी माना गया है। स्वर्गीय प्रसाद जी का 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसमें ध्रुवस्वामिनी ही मुख्य पात्र के रूप में प्रस्तुत की गई है।

अन्य पात्र

नायक के कार्यों में बाधा डालने वाला या फल-प्राप्ति में विलम्ब पहुँचाने वाला पात्र 'प्रतिनायक' कहलाता है। पर ऐसे पात्र का सभी नाटकों में न तो होना ही आवश्यक है और न उसका कोई विशेष प्रतीक ही मिलता है। संस्कृत नाटकों में विदूषक का होना आवश्यक माना जाता था। यह 'ब्राह्मण' होता था, इसका मुख्य कार्य राजा को प्रसन्न करना, नायक-नायिका के मनोमालिन्य को दूर करना, भोजन-प्रियता एवं अवसर पर उचित परामर्श देना होता था। आधुनिक नाटकों में विदूषक नहीं रखा जाता। प्राचीन नाटकों में अधम नायक तथा स्त्री पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते थे। केवल नायक तथा कुछ मुख्य पात्र ही संस्कृत का प्रयोग करते थे। आजकल इतना अवश्य ध्यान दिया जाता है कि पात्रानुकूल भाषा-भाव का प्रदर्शन हो। यथासंभव पात्र इतने ही होने चाहिएँ जो कथा की शृङ्खला को सुन्दर ढंग से आगे बढ़ाएँ, जिससे अभिनय सुन्दर हो। किसी-किसी नाटक में बीसियों पात्रों के रख देने का फल यह निकलता है कि उनका अभिनय सफल नहीं हो पाता।

वृत्ति

नाटक के नायक और नायिका के विशेष व्यापार को वृत्ति[1] कहते हैं। ये वृत्तियाँ चार होती हैं : कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। शृङ्गार रस में कैशिकी वृत्ति और वीर, रौद्र एवं बीभत्स में सात्वती वृत्ति का सर्वत्र व्यवहार होता है।[2] कोमल भावनाओं में कैशिकी तथा उग्र, ओजपूर्ण भावनाओं में सात्वती और आरभटी का प्रयोग उपयुक्त है। भारती वृत्ति उभयनिष्ठ है, अर्थात् उसका उग्र और कोमल दोनों में व्यवहार होता है। जिसमें मनोहारी वेश-रचना,

---

१. विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः। (काव्य मीमांसा)

२. शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥ (सा० दर्पण)

नृत्य, गीतादि का आधिपत्य, सुख-भोग की सामग्री का प्राचुर्य हो, उस विलास-युक्त वृत्ति को 'कैशिकी' कहते हैं। इस वृत्ति में शृंगार के साथ हास्य भी सहायक रूप में रहता है। जिसमें बल, शौर्य, त्याग, दया, सरलता और हर्ष-युक्त सामग्री की बहुलता हो, उसे 'सात्वती' वृत्ति कहते हैं। इसमें अद्‌भुत रस का व्यवहार होता है। माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, वध, बंधन आदि से युक्त उद्धत वृत्ति को 'आरभटी' कहते हैं।' इसमें वीर, रौद्रादि रसों का व्यवहार होता है। ये वृत्तियाँ नायक-नायिका या अन्य विशिष्ट पात्रों में स्वतः अभिव्यक्त होती हैं।

कथोपकथन

पात्रों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। नाटक प्रायः सर्व-साधारण के लिए रचे जाते हैं, अतः इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उनके कथोपकथन जटिल, गम्भीर न हों। कहीं-कहीं नाटककार अपने सिद्धान्त को पात्रों के द्वारा प्रस्तुत करते हैं, पर इसमें बड़ी दक्षता की आवश्यकता है। पात्रानुरूप प्रासंगिक कथन ही उपयुक्त होता है। भाषा सरल, सुबोध, शिष्ट जन-सम्मत होनी चाहिए। चाहे पात्र किसी भी प्रान्त का हो, उसकी भाषा वही होनी चाहिए जो नाटक की है। संवाद काव्य-गुणयुक्त होने चाहिएँ।

संकलनत्रय

यूनानी नाट्यकारों ने वस्तु, देश और काल की मर्यादा पर बड़ा ध्यान दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पर विवेचना की है। भारतीय नाट्यकारों ने इसको कोई आवश्यक अंग नहीं माना है। घुणाक्षरन्याय से अगर कहीं ये संकलन बैठ जाएँ तो यह सम्भव है, पर नाटककार जान-बूझकर इनके बंधन में नहीं फँसे। हाँ, ये नाटक में अवश्य पाये जाते हैं। वस्तु का निर्वाह अन्त तक समान गति से होता है। देश-संकलन में विभिन्न स्थानों की कथाएँ इस रूप में प्रदर्शित की जाती हैं कि सामाजिक उनको भाँप नहीं पाते, न तो उनकी विचार-शृङ्खलता टूटने पाती है। काल-संकलन का प्रदर्शन भी चातुर्य से होना चाहिए। नाटककार वर्षों की कथा को इस रूप में प्रदर्शित करता है कि दर्शक उस व्यवधान से ऊबते नहीं। नाटककार की कला की विशेषता इसी में है कि वस्तु, देश और काल में यथासम्भव अन्तर कम हो और रंगमंच पर इस कला से अभिनय दिखाया जाय कि दर्शक का ध्यान ही उधर न जाय।

रस

नाटक का तीसरा तत्व रस है। भारतीय काव्य का लक्ष्य अलौकिक आनन्द है, उसे ही 'रस' कहते हैं। अन्य दोनों तत्व तो उस महत्व के साधक हैं। रस का विस्तृत विवेचन तो श्रव्य काव्य के प्रकरण में होगा। नाटकों का

मुख्य उद्देश्य है सामाजिकों के हृदय में बीज रूप में स्थित रत्यादि भावों को अंकुरित करना, जिससे शृङ्गारादि रसों में निमग्न सामाजिक साधारणीकरण की अवस्था प्राप्त कर सकें। भरतमुनि ने नाटकों के प्रसंग में शान्त रस को छोड़ कर शेष आठों रसों का वर्णन किया है। पर प्रधान दो ही रस माने गये हैं : शृंगार अथवा वीर। अन्य रसों की व्यंजना गौण रूप में होती थी। बीभत्स रस का वर्णन अंग रूप में भले ही आये पर अंगी रूप में नहीं। लक्षण ग्रन्थों में रस-विरोध का भी दिग्दर्शन है। किस रस का किस रस से विरोध है। जैसे, शृंगार का करुण, बीभत्स, रौद्र और भयानक से; हास्य का भयानक और करुण से; करुण का हास्य और शृंगार से; रौद्र का हास्य, शृंगार और भयानक से; वीर का भयानक और शान्त से; भयानक का शृंगार, वीर, रौद्र और हास्य से; शान्त का वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक से; और बीभत्स का शृंगार से विरोध है।

शान्त रस का प्रयोग नाटक में इसलिए नहीं होता कि अभिनेता 'निर्वेद' के कारण शान्त रस का अभिनय नहीं कर पाता तथा सामाजिक भी प्रायः इस रस के पान के लिए तैयार नहीं होते। करुण रस पूर्ण नाटकों में यह विशेषता है कि दर्शक अश्रुपात करते रहेंगे, आँसू पोंछते रहेंगे पर आनन्द में कमी नहीं आने पायेगी। कारण यह है कि उसका परिणाम सुखान्त होता है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में श्मशान घाट के दृश्य से सामाजिक द्रवित हो जाते हैं, अश्रुधारा बहाते हैं पर 'परिणामे गरीयसी' के सिद्धान्तानुसार रस से सराबोर होकर आनन्द लेते हैं।

नाटककार को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विरोधी रस अंगांगिभाव से न आने पाएँ।

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के छः तत्व माने हैं। डा० श्यामसुन्दरदास ने भी साहित्यालोचन में इन छः तत्वों का विवेचन किया है। वस्तु, पात्र, संवाद, देश-काल, शैली और उद्देश्य। भारतीय दृष्टि से इनका तीन ही तत्वों में समावेश सम्भव है। वस्तु तो स्वतन्त्र है ही। बीच के चारों तत्वों का समावेश नेता में होता है। अन्तिम का ही दूसरा नाम रस है, क्योंकि किसी भी नाटक का उद्देश्य रस-परिपाक ही है।

अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि नाटककार किस उद्देश्य से इस रचना को प्रस्तुत कर रहा है। ऐसी स्थिति में नाटक के समस्त पात्रों के कथनों का परस्पर मिलान करके उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश्य का निर्णय किया जा सकता है। नाटक के प्रधान पात्रों के द्वारा ही नाटककार अपने उद्गार प्रस्तुत करता है। उन उद्गारों

का चयन करके ही हमें किसी नाटक का उद्देश्य स्थिर करना चाहिए। भारत के प्राचीन नाटकों में सर्वाधिक जोर जीवन की व्याख्या पर ही दिया जाता है। और सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श उपस्थित किए जाते हैं। 'साहित्य समाज का दर्पण है' इस उक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाटक के उच्चादर्श तत्कालीन समाज की उन्नति तथा दूषित नाटक नैतिक पतन के सूचक हैं। "नाटकों का सबसे बड़ा उपयोग नैतिक उन्नति तथा समाज-कल्याण में होता है और नाटकों के इसी उपयोग को ध्यान में रखकर नाटक लिखे जाने चाहिएँ।"

नाटकों के भेद

नाटकों के भेद तीन दृष्टियों से किए जा सकते हैं: विषय के विचार से, शैली के विचार से और रंगमंच के विचार से। विषय के विचार से नाटकों के दो भेद हो सकते हैं: ऐतिहासिक (पौराणिक) और सामाजिक। ऐतिहासिक के दो रूप हैं। एक तो अष्टादश पुराणों में आये कथानकों को लेकर नाटक लिखे गए हैं, जिनकी प्रचुर मात्रा संस्कृत नाटकों में या भारतेन्दु-युग में हिन्दी मे भी मिलती है। दूसरा रूप आधुनिक इतिहास के अर्थ में है। जिस परम्परा में नीलदेवी, महाराणा प्रताप एवं स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटक आते हैं। पौराणिक नाटकों में संस्कृत परम्परा को अक्षुण्ण रखा जाता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं ऐसे कई नाटक लिखे थे। द्विवेदी-युग में नाटकों का कलेवर बदलने लगा। इसमें नवीनता आने लगी, बंगला और अंग्रेजी साहित्य का भरपूर प्रभाव पड़ने लगा। 'प्रसाद' जी के नाटक अभिव्यञ्जन-शैली और चरित्र-वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्राचीन नाटकों से एकदम पृथक् दिखाई देते हैं। प्राचीन नाटकों में केवल रस पर ही ध्यान दिया जाता था पर नवीन शैली के नाटक शीलवैचित्र्य-प्रधान हैं।

सामाजिक नाटकों के अन्तर्गत राजनैतिक, समाज-सुधार-सम्बन्धी, जन-समस्या-सम्बन्धी नाटक आते हैं। सर्वप्रथम इस दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने क्रांति की। उन्होंने देखा कि देश और समाज की दशा ऐसी है, जिसमें जीवन नहीं है। प्राण फूँकने की दृष्टि से उन्होंने ऐसे विषयों का चयन किया। राजनैतिक के अन्तर्गत देशप्रेम, जातिगत एकता, साम्प्रदायिक समस्या आदि हैं। समाज-सुधार-सम्बन्धी नाटकों में विधवा-विवाह, बाल-वृद्ध-विवाह, वेश्यागमन-निषेध, मद्यपान-निषेध आदि हैं। जन-समस्या-सम्बन्धी नाटक रोमांचक प्रेम, अछूतोद्धार, हड़तालें, वर्गभेद आदि से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इस दशा में रूसी उपन्यास लेखकों के अनेक अनुवाद भी सहायक हुए हैं। कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गए जो न ऐतिहासिक कोटि में आते हैं, न सामाजिक। इन्हें 'अध्यवसित

रूपक' कह सकते हैं। इनमें भावनाओं या प्रकृति के दृश्यों को व्यक्ति बना अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत को व्यक्त किया जाता है। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय', हिन्दी में 'कामना', 'एक घूंट', 'ज्योत्स्ना' और 'प्रबुद्धयामुन' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं।

रंगमंच की दृष्टि से भी नाटक के दो भेद किए जा सकते हैं : एक रंगमंच के अनुरूप या अभिनय-दृष्टि-प्रधान और दूसरे पाठ्य नाटक।

कुछ नाटक ऐसे होते हैं जो अभिनय की दृष्टि से ही लिखे जाते हैं। ऐसे नाटकों में साहित्यिकता की बहुधा कमी रहती है। कुछ नाटक ऐसे लिखे जाते हैं जिनमें अभिनय की दृष्टि नहीं रखी जाती, केवल साहित्यिक दृष्टि से वे लिखे जाते हैं। ऐसे नाटकों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि-विधानों की ओर विशेष नहीं रहती। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये नाटक खेले ही नहीं जा सकते। हाँ, इनमें कुछ काट-छाँटकर अभिनय के अनुरूप इन्हें बना लिया जाता है। संस्कृत के प्रायः और हिन्दी के उच्चकोटि के नाटक पाठ्य की श्रेणी में ही आते हैं। इसका एक कारण और भी है। हिन्दी-जगत् में अपनी रंगशाला न होने के कारण रंगशाला के अनुरूप नाटक-निर्माण की सुविधा भी लेखकों को नहीं है। 'प्रसाद' जी के प्रायः सभी नाटक साहित्यिक दृष्टि से बड़े ही ऊँचे हैं। पर उन्हें यथावत् अभिनीत नहीं किया जा सकता। एक कारण यह भी है कि वैसे उच्चकोटि के सुविज्ञ, विद्वान् पात्र भी उपलब्ध न होंगे। इसीलिए 'प्रसाद' जी के नाटक कुछ काट-छाँटकर ही अभिनीत हुए हैं। उस दशा में वे बड़े ही सफल रहे हैं।

नाटकों की उत्पत्ति

इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में बहुत मतभेद है। यूनानी नाटकों के विषय में पश्चिमी विद्वानों का मत है कि वहाँ मई मास में 'मे पोल' उत्सव में होने वाले नृत्य से क्रमशः वहाँ नाटकों की उत्पत्ति हुई। ऐसे ही भारत में 'इन्द्रध्वज' महोत्सव से नाटक की उत्पत्ति हुई। ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है। 'इन्द्रध्वज' महोत्सव नेपाल राज्य में अब भी मनाया जाता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'इन्द्रध्वज'[1] का उल्लेख मिलता है। नाटक में नृत्य के साथ भावाभिनय भी होता है। अतः 'मे पोल' की तरह 'इन्द्रध्वज' महोत्सव से नाटक की उत्पत्ति असंगत जान पड़ती है।

---

१. **अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।**
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥

(नाट्यशास्त्र)

यूनानी नाटकों की उत्पत्ति के विषय में डॉ० रिजवे यह मानते हैं कि वीर-पूजा से उनकी उत्पत्ति हुई। मृत वीरों के शव सुरक्षित रखे जाते थे और उनके श्राद्ध के दिन उनकी वीरतापूर्ण जीवनी का प्रदर्शन होता था। उसी परम्परा को भारत में रामलीला और कृष्णलीला के साथ जोड़कर यह निष्कर्ष निकला है कि ये लीलाएँ भी वीरपूजा का ध्वंसावशेष हैं और भारत में भी वीरपूजा से ही नाटकों की उत्पत्ति हुई।

डॉ० कीथ ने ऋतु-परिवर्तन के समय होने वाले उत्सवों, नृत्यगान से नाटकों की उत्पत्ति मानी है। और पतंजलि के महाभाष्य में उल्लिखित 'कंसवध' नामक नाटक का प्रमाण भी दिया है। उस नाटक में कंस और उसके अनुयायी नीलवर्ण वस्त्र धारण किये दिखाये गये हैं। किन्तु कृष्ण और उनके अनुयायी रक्तवर्ण के वस्त्र। इसका तात्पर्य शिशिर ऋतु पर ग्रीष्म ऋतु की विजय सिद्ध कराना है। पर यह मत सर्वमान्य न हो सका।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् पिशेल साहेब ने कठपुतली के नाच से नाटकों की उत्पत्ति मानी है। और भारतवर्ष से ही सारे देश में नाटक का प्रचार हुआ—ऐसी उनकी मान्यता है। कठपुतली के नाच में सूत्रधार और स्थापक दो शब्द ऐसे आते हैं जो इस मत की पुष्टि में सहायक होते हैं। नाचने वाला सूत्र (डोरा) धारण कर पुतलियों को नचाता है और नाच के बाद एक तरफ स्थापित कर देता है। इस आधार पर सूत्रधार और स्थापक दोनों शब्द आते हैं। नाटकों में दोनों शब्द ज्यों के त्यों लिए गये हैं। डॉ० पिशेल ने छाया-नाटकों से भी नाटकों की उत्पत्ति मानी है जिनका प्रसिद्ध उदाहरण 'दूतांगद' है।

कुछ विद्वानों ने नाट्य विद्या का ग्रहण भी यूनानी नाट्यकला से माना है। इसके प्रमाण में वे 'यवनिका' शब्द उपस्थित करते हैं। और ऐसा मानते हैं कि 'यवनिका' शब्द 'यवन' से निकला है। इस विषय में इतना ही कहना है कि संस्कृत नाटकों में 'जवनिका' शब्द का व्यवहार होता था, जिसका अर्थ है पट (पर्दा) —ढकने वाला। प्रायः पटाक्षेप शब्द का ही व्यवहार मिलता है। यवनिका का प्रयोग हिन्दी के नाटकों में हुआ है। इसका अर्थ इतना ही लिया जा सकता है कि यूनानी ढंग के पर्दे बने होंगे। पर इतिहास तो यह भी बतलाता है कि यूनान में नाटक मैदान में हुआ करते थे। आज से ४००० वर्ष पूर्व पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कृशाश्व और शिलाली नामक नाट्य-सूत्रकारों का नाम गिनाया है। 'प्रसाद' जी ने जवनिका की व्याख्या इस प्रकार की है: 'जव' अर्थात् वेग; वेग से झटिति जो पट उठे और गिरे उसे जवनिका कहेंगे। यह व्युत्पत्ति संगत और हृदय-ग्राह्य है। पुरातत्व-विभाग की ओर से कई स्थानों पर खुदाई में ऐसे भवन तथा

कक्ष मिले हैं, जिनसे स्पष्ट सिद्ध हो चुका है कि आंज से हज़ारों वर्ष पहले भी भारतवर्ष में नाटक खेले जाते थे।

नाटकों में त्रासद (दुखान्त) और हासद (सुखान्त) का भेद किया जाता है। भारतीय आचार्यों ने दुखान्त नाटकों का निषेध किया है। यों आजकल हिंदी में बहुत-से नाटकों में दुखान्त वर्णन प्रदर्शित किये जाते हैं। पर इसका अभिप्राय यह है कि जिस नाटक में नायक या किसी प्रिय पात्र का दुखद अन्त हो, उसे ही दुखान्त माना जा सकता है। नाटक में प्रतिनायक या कोई अधम या खलनायक, नाटक की फल-प्राप्ति में बाधा पहुँचाता है तो सामाजिक दुखी होते हैं, पर, जब नायक फल-प्राप्ति में सफल हो जाता है तो सामाजिकों के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता; तब उसे सुखान्त कहा जाता है। कभी-कभी नायक जब निज फल-प्राप्ति में सफल नहीं होता या नायक या नायिका की मृत्यु हो जाए तो उसे दुखान्त कहा जा सकता है। जैसे 'जयद्रथ-वध' या 'उरुभंग' नाटकों में जयद्रथ के वध या दुर्योधन की जाँघ टूटने का दुखद दृश्य देखने पर भी सामाजिक प्रसन्न होते हैं। इसका प्रधान कारण पात्र-विशेष के प्रति अनुराग है। अभिमन्यु के वध में जयद्रथ का विशेष योग था। अत: जयद्रथ सामाजिकों की दृष्टि में वध्य माना गया। दुर्योधन के अत्याचार के कारण जनता पाण्डवों की समर्थक हो गई। प्राचीन नाटकों में सुखान्त-दुखान्त का कोई प्रश्न ही नहीं था। भारत तो सदा आदर्श का पुजारी रहा है। यहाँ अपने आदर्श चरित-नायक का अन्त सदा वर्जित है। हमारे यहाँ सत्यं, शिवं, सुन्दरं की सदा प्रतिष्ठा रही है। नाटक के अन्त में उपदेश, सात्विक मनोरंजन ही नाटककार का उद्देश्य रहता है। अन्त में नाटक की समाप्ति पर 'भरत वाक्य' का विधान है, जिसमें जनता के कल्याण भूमि को शस्य-श्यामला देखने की इच्छा तथा राजा की कल्याण-कामना की जाती है। ऐसी स्थिति में दुखान्त का प्रश्न ही कहाँ ?

अब पाश्चात्य विद्वान् भी नाटकों की उत्पत्ति वेद के संवाद-सूक्तों से मानने लगे हैं। प्रसिद्ध विद्वान् श्रोडर का मत है कि वैदिक काल के पूर्व नृत्य, गीत और वाद्य का जो संयोग था, उसी के प्रभाव से वैदिक ऋषि प्रभावित हुए और उनके मन्त्रों में संवाद-रूप से गायन और नर्तन का समावेश हुआ। वैदिक सोम यज्ञ में सोम-क्रेता और विक्रेता के रूप में ऋत्विज आते थे और अभिनय करते थे। धीरे-धीरे उसी से नाटकों का विकास हुआ होगा। प्राचीन आचार्यों का मत है कि शिव ही नाटक के जन्मदाता हैं। इसीलिए शिव को नटराज और नटेश कहते हैं। दक्षिण भारत में प्रायः शिव की मूर्तियाँ अभिनय की मुद्रा में ही पाई जाती हैं। पुरातत्व-विभाग की खुदाई में शिव की अनेक मूर्तियाँ अनेक भाव-भंगिमाओं और

अभिनय की मुद्राओं में मिली हैं। शिव ने ब्रह्मा को और ब्रह्मा ने भरतमुनि को नाट्य विद्या का ज्ञान दिया। भरतमुनि ने मर्त्यलोक में इसका ज्ञान दिया। भारतीय प्रत्येक कार्य धर्मानुप्राणित होता है। नाट्य की उत्पत्ति दिव्य उत्पत्ति है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में त्योहारों और उत्सवों में स्वांग रचकर उसी प्राचीन कला का दिग्दर्शन कराया जाता है और संभव है इन स्वांगों और नृत्य-गीतों का ही परिष्कृत रूप नाटक बना हो। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'नाटक' को 'पंचमवेद' माना गया है और लिखा है कि जब काम और लोभ से प्रेरित होकर लोग अनाचार में निमग्न हो गए और ईर्ष्या-क्रोध के कारण सुख-दुख का विशेष अनुभव करने लगे तब इंद्रादि देव ब्रह्मा के पास गए और उनसे निवेदन किया कि एक ऐसा दृश्य उपस्थित कीजिए जिससे आँख और कान दोनों को आनन्द मिल सके। वैदिक उपदेश रूक्ष हैं, सभी उसका आनन्द नहीं ले पाते। ऐसी प्रार्थना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने चारों वेदों का स्मरण कर धर्म, अर्थ और यश को देने वाले इतिहास और उपदेश से युक्त, लोगों को लोक-व्यवहार का आदर्श सिखाने के लिए 'नाट्य' नामक वेद की रचना की, जिससे जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं[1] उनके सहित सारे समाज को वेदों का-सा आनन्द प्राप्त हो सके। सभी शास्त्रों का निचोड़ लिया गया, जिसमें सभी शिल्पों का प्रदर्शन किया गया। चारों वेदों से पृथक्-पृथक् उपादान लेकर इसका निर्माण किया गया। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर चार तत्वों से इसका निर्माण किया गया।[2] भरतमुनि के कथन से स्पष्ट है कि नाटकों का उद्भव वेदमूलक है। भारतीय प्रत्येक कार्य में लोक-कल्याण की भावना को प्रधानता देते हैं।

प्रेक्षागृह

रूप-कथा का रंगशाला से अभिन्न सम्बन्ध है। नाटकों की उन्नति और अवनति का प्रभाव रंगशाला की उन्नति-अवनति पर पड़ता है। अर्थात् जब नाटकों की उन्नत अवस्था थी तो रंगशालाएँ भी उत्तम दशा में थीं और नाटकों के ह्रास के साथ ही रंगशाला का भी लोप हुआ। बड़े नाटकों अर्थात् पात्र-बहुल नाटकों के लिए बड़ी रंगशाला अपेक्षित है। कुछ कम पात्रों वाले नाटकों के लिए मध्यम रंगशाला तथा थोड़े पात्रों वाले नाटकों के लिए लघु रंगशाला।

---

१. न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु,
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सर्ववार्णिकम्। (नाट्यशास्त्र)

२. जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च,
यजुर्वेदादभिनयान् रसनाथर्वणादपि। (नाट्यशास्त्र)

आजकल के वैज्ञानिक युग की तरह ध्वनि-विस्तारक यंत्र तथा विद्युत्प्रकाश की सुविधा तो थी नहीं कि जिससे उनकी रचना बहुत विस्तृत की जा सके, फिर भी उनकी रचना वैज्ञानिक लगती है। रंगशालाएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं—विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र। विकृष्ट रंगशाला सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इसकी लम्बाई १०८ हाथ होती थी। चतुरस्त्र मध्यम कोटि की थी। इसकी लम्बाई चौड़ाई ६४×३२ हाथ होती थी। ये दोनों रंगशालाएँ आयताकार होती थीं। त्र्यस्त्र रंगशाला साधारण कोटि की होती थी। यह त्रिभुजाकार होती थी। चतुरस्त्र रंगशाला राजाओं और धनिकों तथा सर्वसाधारण के लिए होती थी। त्र्यस्त्र में केवल घनिष्ट मित्र और परिचित लोग ही सम्मिलित होते थे। रंगशाला का आधा भाग दर्शकों के लिए और आधा अभिनय तथा पात्रों के लिए नियत रहता था। रंगमंच का सबसे पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता था। यह छः खंभों पर निर्मित होता था और इसमें नाटक के अधिष्ठातृ देवता का पूजन होता था। रंगमंच के दो खण्ड होते थे। ऊपर के खण्ड में स्वर्ग के दृश्य दिखाये जाते थे और निचले में मृत्युलोक के। रंगशीर्ष के बाद रंगपीठ होता था, जिसे संभवत: नेपथ्यगृह कहते थे। रंगपीठ से आधे हाथ की ऊँचाई पर मत्तवारिणी (बरामदा) होता था जिस पर अभिनेता विश्राम करते थे। नेपथ्यगृह में जाने के लिए दो द्वार होते थे। रंगमंच की दीवालों पर उत्तम चित्रकारी तथा वायु और प्रकाश के झरोखे होते थे। नाट्यमंडप ग्रहाकार होता था, जिससे अभिनेताओं की ध्वनि गूँजे। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुकूल बनी हुई एक रंगशाला सरगूजे (मध्य प्रदेश) में मिली है, जो किसी देवदासी की बनवाई हुई है। उससे प्रमाणित होता है कि मध्यकाल में नाटकों का अभिनय होता था और रंगशालाएँ निर्मित थीं। हिन्दी के पुराने नाटक जिन रंगशालाओं में खेले गये, उनका संगठन नये प्रकार का था और वे पारसी अल्फ्रेड कम्पनियों के तत्वावधान में थीं। हिन्दी के अभिनय योग्य नाटक इसी प्रकार के रंगमंच पर खेले जाते हैं। भरतमुनि के वर्णित नियमानुसार आधुनिक आवश्यकताओं का ग्रहण करते हुए यदि रंगमंच बने तो उससे बहुत कुछ सुविधा मिल सकती है; और 'प्रसाद' जी के नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकते हैं। भारत सरकार दिल्ली आदि नगरों में नाट्यशालाएँ बनवा रही है। देखें वे कहाँ तक अभिनय में योगदान देती हैं।

चलचित्र

जब से चलचित्रों का प्रचार व प्रसार हुआ, तब से जनता के मनोरंजन के साधन अधिकतर ये ही होने लगे। नाटकों में अर्थ-व्यय अधिक होता है। चलचित्रों (सिनेमा) में थोड़े पैसे खर्च कर मनोरंजन किया जा

सकता है। जब तक मूक चित्रों का ही प्रचार था, तब तक नाटकों की विशेष क्षति नहीं हुई। व्यापारिक या अव्यापारिक नाट्य संस्थाओं द्वारा नाटक खेले जाते रहे। अव्यापारिक संस्थाएँ कभी-कभी साहित्यिक नाटकों का प्रदर्शन भी किया करती थीं। किन्तु इधर सवाक् चलचित्रों के प्रसार से कई व्यापारिक नाट्य संस्थाएँ टूट चुकी हैं। अव्यापारिक नाट्य संस्थाएँ भी नाट्य प्रदर्शन बहुत कम कर रही हैं। चलचित्रों में एक बार का बनाया गया चित्रपट अनेक स्थानों पर अनेक बार दिखाया जा सकता है। पर नाटक के लिए बहुत दिनों की तैयारी करने के बाद एक बार में एक ही स्थान पर दिखाया जा सकता है। साथ ही बहुत व्ययसाध्य है। यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या सवाक् चलचित्रों के प्रसार से साक्षात् नाट्य प्रदर्शन एकदम रुक जाएगा ? जीवन की संकुलता बढ़ जाने से मनोरंजन के सुलभ साधन की आवश्यकता संसार के समस्त देशों में उठ खड़ी हुई है। दर्शकों की दृष्टि से साक्षात् नाटकाभिनय अधिक द्रव्यसाध्य है ही, अतः धीरे-धीरे सभी देशों में उसका ह्रास होने लगा है।

विज्ञान की चरमोन्नति से भी सिनेमा के अनेक चित्र प्रेताकार दिखाई देते हैं, उनसे साधारण विद्याबुद्धि के लोगों का भले ही मनोरंजन हो जाए, किन्तु साहित्य की अभिरुचि रखने वालों का पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता। भारतीय नाट्यशास्त्रों में नाटकों का लक्ष्य रस-संचार माना गया है। सिनेमा में नाटकों की अपेक्षा रस-संचार कम होता है। इसलिए नाटकाभिनय के अवलोकन की लिप्सा काव्याभिरुचि-सम्पन्न लोगों में अवश्य बनी रहेगी। इसलिए यह विश्वास किया जा सकता है कि सिनेमा का चाहे जितना प्रसार या विकास हो, नाटकाभिनय का सर्वथा लोप नहीं हो सकता। साहित्यिक नाटकों का निर्माण अभिनय की दृष्टि से भले ही न हो, संवाद-शैली की विशेषता की दृष्टि से निरन्तर होता रहेगा।

आठवां अध्याय

रंगमंचीय नाटक

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारे देश में राजनीतिक नवचेतना के साथ-साथ ही साहित्यिक उद्‌बुद्धता का भी दर्शन होने लगा। उस काल में नव-जागरण का ऐसा प्रचंड झंझावात उठा कि उसने हमारे साहित्योद्यान के कितने ही पुरातन वृक्षों का मूलोच्छेदन कर दिया, और कितनों की शाखाएँ तोड़ डालीं। साहित्योद्यान का संरक्षक निद्रा से जगने पर विस्मय-विमुग्ध रह गया। कहने का तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से हमारी कितनी सामाजिक मान्यताएँ उखाड़कर फेंक दी गईं, कितनी पूँजीभूत साहित्यिक रूढ़ियाँ अस्त-व्यस्त हो गईं। हमारे देश में जीवन का ढाँचा बदलने लगा। नवीन शिक्षा-पद्धति ने जीवन में नवीनता लाने को बाध्य किया। इसका प्रभाव साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था। सामान्य रीति से साहित्य का प्रत्येक अंग इससे प्रभावित हुआ किन्तु नाटक का जीवन से अटूट सम्बन्ध होने से—सबसे अधिक प्रभाव नाट्य साहित्य पर पड़ा।

केवल हिन्दी ही नहीं, देश की प्रायः सभी विकासोन्मुख भारतीय भाषाओं के नाट्य साहित्य ने अपने को इस परिवर्तित युग के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। अंग्रेजी नाटकों, नाटककारों और आलोचकों ने हमारी अडिग नाट्य परम्पराओं को भी उच्छिन्न कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भरतमुनि की उपेक्षा करके प्रायः प्रत्येक देशी भाषा में दुखान्त नाटकों का सृजन होने लगा। प्रेम-पद्धति ने नया मार्ग पकड़ा। उन्मुक्त प्रेम को प्रोत्साहन मिलने लगा। देशोद्धार के लिए आवश्यक उपकरण जु ाने एवं प्रोत्साहन देने के लिए नाटककार कमर कसकर प्रस्तुत हो गए। नाटक की एक नयी परम्परा चल पड़ी, जिस पर अंग्रेजी नाट्यशास्त्र का गहरा प्रभाव पड़ा।

आज दिन बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों की नयी मान्यताओं को पूर्ण रीति से समझने के लिए अंग्रेजी नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय आवश्यक हो गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र का उल्लेख हम पूर्व कर आए हैं किन्तु नवीन नाटक-शैली के परीक्षण के लिए नाट्यशास्त्र की मान्यताएँ पुरानी पड़ जाने के कारण

अपर्याप्त हो गई हैं अतएव अंग्रेजी नाट्यशास्त्र पर भी विचार कर लेना आवश्यक हो गया है।

भरतमुनि और अरिस्टाटल

जिस प्रकार हमारे देश में भरतमुनि नाट्यशास्त्र के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं, उसी प्रकार योरुप में नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य अरिस्टाटल हुए हैं। दोनों आचार्यों ने अपनी साहित्यिक परम्परा और जातीय विचारधारा का परीक्षण करके नाटक के कतिपय सिद्धान्त निर्धारित किए। उन दोनों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करने से हमें पाश्चात्य और पौर्वात्य नाटकों की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँगी।

हम कह आए हैं कि भरतमुनि ने भारतीय नाटकों में रस की बड़ी महत्ता सिद्ध की है। वह नाट्यशास्त्र में विवेचना करते-करते श्रेष्ठ नाटक के विषय में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जिसमें कोमल ललित पद और अर्थ हो, गूढ़ शब्दार्थ रहित हो, जो विद्वानों को सुख देने योग्य हो, बुद्धिमान उसे खेल सकें, अनेक रसों के लिए अवकाश हो, सब सन्धियों के जोड़ ठीक हों, वही प्रदर्शन के लिए श्रेष्ठ नाटक होता है।"[1]

अरिस्टाटल का मत इससे कुछ-कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि "ट्रेजेडी उस कार्य-विशेष का अनुसरण है, जिसमें गम्भीरता के साथ आकार की स्वतः पूर्णता और जो सब प्रकार के प्रसन्नतोत्पादक उपकरणों से अलंकृत भाषा में व्यक्त हो और जिसकी रचना नाटकीय ढंग से की गई हो, न कि प्रकथन या विवरण के रूप में की गई हो। इसमें ऐसी घटनाएँ रहती हैं जो करुणा और भय को जाग्रत कर उन भावों का रेचन या विकास कर देती हैं।"[2]

---

१. मृदुललित पदार्थं गूढ़शब्दार्थहीनं,
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्त योग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्,
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

(नाट्यशास्त्र, अध्याय १६, पृ० १२४)

2. "A Tragedy, then is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language, with pleasurable accessaries, each kind brought in separately in the parts of the work, in a dramatic not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions."

—Aristotle

दोनों लक्षणों की तुलना करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारतीय और पाश्चात्य नाट्यशास्त्रों का नाटक के लक्ष्य के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं। जहाँ भरतमुनि अनेक रसों से समन्वित काव्य को नाटक कहते हैं, वहाँ अरिस्टाटल भावों के रेचन पर बल देते हैं। दोनों का दृष्टिकोण भिन्न है। भारतीय नाटक का साध्य रस है; साधन है संवाद, संगीत और अभिनय; निमित्त हैं नट; भोक्ता हैं दर्शक; आधार है कथा; और इन सब का संयोग करने वाले हैं नाटककार और नाट्यप्रयोक्ता।

आज दिन नाट्य प्रयोग की पद्धति बदली हुई है। मध्ययुग में नाटकों का अभिनय खुले मैदान में किसी ऊँचे स्थान पर हो जाता था। किन्तु अब बिजली के प्रभाव से रंगमंच पर अनेक प्रकार के साधनों द्वारा सामान्य रचना को भी हृदयग्राही बना दिया जाता है। आज का नट नाटककार के सदृश ही यशस्वी कलाकार माना जाता है। वह दुखान्त नाटकों को भी मनोरम् बना देता है।

दुखान्त नाटक

दुखान्त नाटक की आत्मा के सम्बन्ध में आलोचकों का प्रतिनिधित्व करते हुए पटेनहम महोदय लिखते हैं कि "दुखान्त नाटक आपदाग्रस्त और भाग्यहीन राजकुमारों की दुखभरी गाथा सुनाता है; इसका उद्देश्य मनुष्य को भाग्य के अनसुने परिवर्तन और अनीतिमय जीवन को भगवान् की न्यायपूर्ण सजा का स्मरण दिलाता है।"[1]

विषयगत भिन्नता के कारण दुखान्त नाटक के तीन भेद माने गए हैं :

१. साहसिक दुखान्त नाटक (Heroic Tragedy)
२. आतंकपूर्ण दुखान्त नाटक (Horror Tragedy)
३. पारिवारिक दुखान्त नाटक (Domestic Tragedy)

साहसिक दुखान्त नाटक (Heroic Tragedy) : इसमें नायक की किसी एक उत्कट महत्वाकांक्षा का रोमांचकारी प्रदर्शन होता है, जिसे प्राप्त करने में नायक असफल रहता है और विनाश को प्राप्त होता है। इसमें नाटककार का उद्देश्य

1. "Tragedy deals with the doleful falls of princes, reminding men of the mutability of fortune and God's just punishment of vicious life."

—Puttenham.

भव्यता का प्रभाव डालना होता है। इसमें नायक के अन्तर्भूत द्वन्द्व (मनोवेग विशेषकर प्रेम-सम्बन्धी और बुद्धि कर्त्तव्य-सम्बन्धी) ही उसे उलझाकर मार डालते हैं। बाह्य परिस्थितियाँ उसके लिए घातक नहीं बनतीं।

यहाँ नायक की बलशीलता पर इतना अधिक बल दिया जाता है कि वह हास्यास्पद लगने लगता है, उसके मुख से इतने उत्तेजनापूर्ण शब्द कहलाए जाते हैं कि वह अस्वाभाविक प्रतीत होने लगता है और हम पर अपनी सत्यता का प्रभाव नहीं डाल सकता।

आतंकपूर्ण दुखान्त नाटक (Horror Tragedy) : इसमें कथानक के वस्तु-जगत् और भाव-जगत् दोनों भयकारी दृश्यों से आपूर्ण रहते हैं तथा दर्शक के मन में आतंक का स्पन्दन बना रहता है। फिर भी आतंककारी बाह्य जगत् के दृश्यों का ही अधिक समावेश होता है; विविध आतंककारी अवस्थाओं और परिस्थितियों का ही बाहुल्य रहता है। यद्यपि इसमें अन्तर्जगत् के द्वन्द्व भी नायक को विनाश के पथ पर ले जाने में सहायक होते हैं परन्तु बाह्य जगत् से उसका संघर्ष अन्तर्जगत् की अपेक्षा अधिक विकट होता है।

पारिवारिक दुखान्त नाटक (Domestic Tragedy) : इसमें आर्थिक विषमता से उत्पन्न संघर्षों को दर्शाया जाता है। इसमें आतंक की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। इसमें नाटक का अन्त दो प्रकार से होता है : (१) जिसमें उलझन अधिक विकट होती है और दृश्य भयकारी होते हैं तथा अन्त मृत्यु से होता है। (२) जिसमें दुखान्त नाटक की आत्मा तो व्याप्त रहती है पर अन्त सुखात्मक होता है।

अतिदुखान्त नाटक (Melodrama) : दुखान्त नाटक जब अपने मुख्य आदर्शों (चरित्र-चित्रण और वास्तविक दुखान्त भावना (True tragic spirit)) से विमुख हो केवल प्रभावात्मक दृश्यों के प्रदर्शन में ही लग जाता है तो उसे अतिदुखान्त नाटक कहते हैं। इसमें केवल आकर्षक दुखान्त घटनाओं पर बल दिया जाता है और श्रेष्ठ दुखान्त की वास्तविक अन्तरात्मा का निर्वाह इसमें नहीं किया जाता। नाटक की कथा अस्वाभाविक होती है और नृत्य और अस्वाभाविक दृश्यों से भरी रहती है। इसके घटना-चक्र अस्वाभाविक होने के कारण दर्शक के अन्तःकरण पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डालते। इसमें केवल क्षणिक स्पन्दन पैदा करने वाले दृश्यों का ही बाहुल्य रहता है। इनसे केवल हमारी स्थूल इन्द्रियों का ही विनोद होता है। श्रेष्ठ दुखान्त नाटक से हमारे सूक्ष्म मन का विनोद

होता है। श्रेष्ठ दुखान्त में आदर्श की झलक रहती है, अति दुखान्तक का कोई आदर्श नहीं होता।

सुखान्त नाटक

यदि दुखान्त नाटक का अन्त नायक की मृत्यु से होता है तो सुखान्त नाटक का अन्त नायक के फलने-फूलने, उसके उत्थान, ऋद्धि-समृद्धि और हर्ष-आनन्द की वृद्धि से होता है। यदि दुखान्त नाटक में नायक के परिवार, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी सभी आपदाग्रस्त हो प्राणों की तिलांजलि दे देते हैं तो सुखान्त नाटक में वे लोग नायक के साथ-साथ नये आनन्दमय जीवन में प्रवेश करते हैं। दुखान्त में पाया हुआ राज्य-वैभव भी खो जाता है, सुखान्त में खोया हुआ भी मिल जाता है। चिर साथ रहने वाली प्रेमिका विपत्ति के प्रहारों से विचलित होकर सदा के लिए साथ छोड़ देती है, तो सुखान्त नाटक में नायक का अप्रत्याशित और आशातीत अपूर्व नायिका के साथ मिलन होता है। सार यह है कि दुखान्त नाटक जीवन से निवृत्ति देता है, सुखान्त नाटक जीवन में प्रवृत्ति। दुखान्त की परिणति दुख में होती है, सुखान्त की सुख में।

भारतीय नाटकीय परम्परा नाटक को दुखान्त नहीं होने देती। नायक के जीवन में कितनी भी विपत्तियाँ आएँ पर नाटककार उसे प्रायः अन्त में सुखी और समृद्ध बना ही देता है। यूरोप में भी चौथी शताब्दी से ही सुखान्त नाटक की परम्परा चली आ रही है। विभिन्न युगों में विभिन्न शैलियों में सुखान्त नाटक लिखे गए हैं। इसलिए प्रत्येक युग में इसके नये-नये भेद-प्रभेद होते गए हैं। संपूर्ण सुखान्त नाटकों का वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं :

१. उदात्त सुखान्त नाटक (High Comedy)

यह सुखान्त नाटक उसी प्रकार गंभीर और भावपूर्ण होता है जिस प्रकार दुखान्त नाटक। इसमें भी कथावस्तु, चरित्र-चित्रण वार्तालाप में उदात्त भाव पिरोये जाते हैं, पर इनका निर्वाह कोमलता और सरसता के साथ होता है। यही दोनों में अन्तर है। पाठक का हृदय और मस्तिष्क बोझिल नहीं मालूम पड़ता जैसा कि दुखान्तकी में प्रायः हो जाया करता है।

२. प्रहसन (Farce)

इस सुखान्त नाटक में हास्य की प्रधानता होती है। नाटककार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है, ऐसे चरित्रों का निर्माण करता है, जिनसे पाठक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। इसमें गांभीर्य के लिए प्रायः स्थान नहीं। यदि कहीं-कहीं आता भी है तो वह हास्य का कारण बन जाता है। इसके लिए

नाटककार अतिनाटकीय तत्वों का विधान करता है। विदूषक का अभिनय प्रधानतया हास्य की सृष्टि करता है। वह किसी भी पात्र का मज़ाक उड़ाए बिना नहीं रहता। शेक्सपियर के 'ट्वेल्वथ नाइट' में यह तत्व पर्याप्त रूप में पाया जाता है। इससे भी अधिक प्रहसन-तत्व 'टेमिंग आफ दि श्रृ' और 'मेरी वाइव्स ऑफ़ दि विन्ड्सर' में विद्यमान हैं।

३. रोमांस सुखान्त नाटक (Romantic Comedy)

यह शेक्शपियर द्वारा प्रवर्तित सुखान्त नाटक की विशिष्ट विधा है। इसमें कल्पना का पुट अधिक रहता है। इसके बाद प्रेम और साहस (Adventure) का योग रहता है। सारी कथावस्तु प्रेम की कई कहानियों से निर्मित होती है। सहसा नायक-नायिका के जीवन में संकट आते हैं, जिन्हें वे स्नेह और साहस से हँसते-हँसते झेल लेते हैं। अन्त में विवाह-सुख-समृद्धि से फलने-फूलने लगते हैं। इस विधा के मुख्य उदाहरण शेक्सपियर के 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम', 'ट्वेल्वथ नाइट', 'मच ऐडो एबाउट नथिंग', 'ऐज़ यू लाइक इट' आदि रचनाएँ हैं।

४. व्यंग्य सुखान्त नाटक (Comedy of Humours or Satire)

बेन जॉन्सन इस सुखान्तकी के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इस नाटक में मनुष्यों की विभिन्न चरित्रगत कमियों पर व्यंग्य कसकर उनमें सुधार लाने का प्रयत्न किया जाता है। व्यक्तिगत चरित्र-दोष समाज और व्यक्ति दोनों के लिए हानिकर होते हैं। शेक्सपियर की 'रोमांस कॉमेडी' का घोर विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि सुखान्तकी का उद्देश्य केवल रास-रंग और हास-विलास नहीं। सुखान्तकी का प्रयोग सामाजिक उत्थान के लिए होना चाहिए। इसके उदाहरण 'रैल्फ़ रायस्टर डायस्टर' और 'एव्री मैन इन हिज़ ह्यूमर' हैं।

सुखान्त नाटक की इन विधाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी में अन्य विधाएँ भी हैं। 'कॉमेडी ऑफ मैनर्स', 'जेन्टिल कॉमेडी' और 'सेन्टीमेन्टल कॉमेडी' पर भारतीय साहित्य में अलग रूप से ऐसी विधाएँ प्रचलित नहीं। ये सुखान्त नाटक इंग्लैण्ड में सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में विशेष रूप से लिखे गए। इनका मुख्य उद्देश्य समाज की कुरीतियों पर प्रहार तथा उनका परिष्कार करना था।

नाटक के तत्व

अरस्तु के अनुसार प्रत्येक कॉमेडी के छः तत्व होते हैं : (१) इतिवृत्ति, (२) आचार, (३) विचार, (४) वर्णन-शैली, (५) दृश्य, (६) गीत। अरस्तु ने

प्रथम दो अर्थात् इतिवृत्ति और आचार अनुकरण के साधन बताये हैं। विचार अनुकरण के ढंग को सूचित करता है। वर्णन-शैली, दृश्य और गीत अनुकरण के आधार हैं।

इतिवृत्त

अरस्तु के मत से कॉमेडी की आत्मा इतिवृत्त है। इसे सर्वांगपूर्ण होना चाहिए। इसके निर्माण में ६ मुख्य अवस्थाएँ मानी जाती हैं : (१) सूत्रपात या परिस्थिति (Exposition), (२) संघर्ष की वृद्धि (Rising action or growth), (३) चरम सीमा (Climax), (४) ह्रास (Falling action) (५) अवसान या पतन (Catastrophe denouement), (६) पतन-शान्ति (Conclusion)

[संस्कृत के आचार्यों ने इसको अपनी शैली में कार्यावस्था का नाम दिया है, जिसका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है।]

इतिवृत्त के निर्माण में सबसे अधिक ध्यान कार्य के एकत्व (Unity of action) की ओर रहता है। इसमें कथानक के विभिन्न अंगों को इस प्रकार ग्रथित करना होता है कि एक प्रसंग को हटाने से सम्पूर्ण ढाँचा बिखर जाए। इसकी रचना में कवि केवल वास्तविक घटनाओं का ही वर्णन नहीं करता वरन् वे घटनाएँ भी इसमें सम्मिलित करता है, जिनकी सम्भावना भी हो सकती है। अर्थात् जो सम्भावना और आवश्यकता के नियमों के अनुसार सम्भाव्य हों।

कॉमेडी में भय और करुणा का संचार करने वाली घटनाओं को समाविष्ट करना आवश्यक है। कारण यह है कि भय और करुणा का संचार पाठक या श्रोता के मन में तभी होगा जब घटनाएँ किसी प्रकार की विलक्षणता का दर्शन करायेंगी। विलक्षणता के उद्भव के लिए इतिवृत्त में ऐसा तारतम्य उपस्थित करना होता है कि कोई घटना दैवयोग से उत्पन्न, आकस्मिक अथवा तर्करहित न प्रतीत हो।

संघर्ष (Conflict)

नाटक के कथा-व्यापार के निर्माण में 'संघर्ष' अत्यन्त मौलिक तत्व माना जाता है। इसे कन्ट्रास्ट, स्ट्रगल अथवा अपोजीशन नाम से भिन्न-भिन्न आलोचकों ने पुकारा है। बाह्य संघर्ष तभी परिलक्षित होता है जब दो विरोधी शक्तियाँ आपस में टक्कर लेती हुई पाठक या दर्शक के भावात्मक प्रवाह को सतत एक दिशा में बहाने में समर्थ होती हैं। दूसरा आन्तरिक संघर्ष कहलाता है, जो

मुख्यतया 'विश्वास और शांति' का द्वन्द्व बन जाता है।

प्रतिकथानक (Counter Plot)

कभी-कभी संघर्ष को जटिल बनाने के लिए एक प्रतिकथानक और जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार दूसरे स्तर पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाने से पहले संघर्ष की जटिलता में वृद्धि हो जाती है।

संयोग (Coincidence)

संघर्ष को परिपूर्णता की ओर ले जाने के लिए कभी-कभी सिद्धहस्त नाटककार संयोग की भी योजना करते हैं। "संयोग ऐसी घटना को कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में शंकायुक्त भावना रहती है कि ऐसा भी हो सकता है।" एक आलोचक का मत है कि "The Poet should choose what is impossible but likely, in preference to what is possible but incredible. कवि को घटना-सृष्टि में इस सामान्य सिद्धान्त का स्मरण रखना चाहिए कि "अविश्वसनीय सम्भव से विश्वसनीय असम्भव" नाटक के लिए विशेष उपयुक्त है। शकुन्तला नाटक में दुर्वासा ऋषि के शाप से शकुन्तला का विस्मृत हो जाना विश्वसनीय असम्भव ही है। ऑथेलो नाटक में डैसडेमोना के हाथ से रूमाल का गिर जाना और उसके कारण नाटक की सुखमयी घटना-धारा का नया मोड़ लेना इसी संयोग के अन्तर्गत माना जाता है। ऐसी घटनाओं में तर्क कहता है यह हो नहीं सकता, किन्तु कल्पना कहती है कि इसकी सम्भावना है।

अन्तर्द्वन्द्व (Conflict)

मानव-हृदय में दो विरोधी प्रवृत्तियों में सदा से युद्ध होता आया है। यह युद्ध बाह्य युद्ध से अधिक भीषण और परिणामप्रद होता है। जिस नाटक में यह अन्तर्द्वन्द्व जितना ही स्वाभाविक होगा, वह नाटक उतना ही उत्कृष्ट होगा। यह अन्तर्द्वन्द्व सदा पाप-पुण्य या धर्म-अधर्म अर्थात् सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति के ही मध्य नहीं छिड़ता, सत्प्रवृत्तियों में भी कभी-कभी यह द्वन्द्व युद्ध होने लगता है। उत्तररामचरित नाटक में राम में यह अन्तर्द्वन्द्व प्रजा को प्रसन्न करने और पत्नी-रक्षा करने में दिखाई पड़ता है। हेमलेट का अन्तर्द्वन्द्व देखिए :

"जीवन और मरण में कौन श्रेयस्कर है? क्या जीवित रहकर आक्रमणकारी दुर्भाग्य के पत्थरों और बाणों का निरन्तर प्रहार सहना श्रेयस्कर है अथवा विपत्ति के उमड़ते हुए सागर के विरुद्ध हथियार धारण करना? मृत्यु का नाम

चिरनिद्रा है। चिरनिद्रा का अर्थ जीवन का अन्त !"[1]

इस अन्तर्द्वन्द्व में भूल-राक्षसी (Error) का प्रधान हाथ रहता है। यह भूल भी तीन प्रकार से दिखाई जाती है। (१) अनजाने हो जाए, (२) जान-बूझकर किन्तु अविचार के कारण हुई हो, (३) पूर्णरूपेण जान-बूझकर हुई हो, जैसे—मैकबेथ में। प्रत्येक प्रकार की भूल के मूल में तीन में से एक बात अवश्य होती है : (क) इच्छा की विविध शक्तियाँ अनुपातहीन बन जाती हैं। (ख) इच्छा और आदर्श में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। (ग) सामाजिक दबाव के प्रभाव से विचारशक्ति कुण्ठित हो जाती है।

परिस्थिति (Exposition)

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ कॉमेडी (दुखान्त) की इतिवृत्त का निर्माण किया जाता है। इतिवृत्त की छः अवस्थाओं का नामोल्लेख हम पूर्व कर आए हैं। यहाँ प्रत्येक अवस्था पर संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।

प्रथम अवस्था सूत्रपात या परिस्थिति (Exposition) कहलाती है। इस अवस्था का उपस्थापन नाटककार कई प्रकार से कलापूर्ण ढंग से करता है। कभी तो वह नायक को ऐसी स्थिति में रख देता है, जिसमें वह अदूरदर्शिता से काम करते-करते दुखान्तकी (Tragedy) का बीजारोपण करने लगता है। जैसे, लियर का सहसा यह निश्चय कि पुत्रियों में समस्त राज्य का विभाजन उचित है, उसके विनाश का कारण बना। रोमियो जूलियट नाटक में रोमियो की अदूरदर्शिता का एक कार्य सर्वविनाश का कारण बना। रोमियो इस तथ्य से पूर्ण परिचित होते हुए भी कि जूलियट का परिवार उसका शत्रु है, अपने को उसके (जूलियट के) प्रेम-बन्धन में बाँधना चाहता है। हेमलेट को ऐसी पूर्वनिर्मित परिस्थिति मिली, जिसमें उसे मृत पिता की उस प्रेतात्मा के दर्शन होते हैं, जो उसे षड्यंत्रकारी चाचा से प्रतिशोध लेने का आदेश देती है। स्वयं कभी-कभी नायक अपनी मूर्खता से विनाशकारी परिस्थिति का निर्माण करता है। ऑथेलो इयागो के कपटपूर्ण संवादों को सुनकर अपनी ही ईर्ष्यालु भावना की सहायता से घातक परिस्थिति निर्मित करता है। ब्रूटस

---

1. To be, or not to be : that is the question :
   Whether 'ts nobler in the mind to suffer.
   The slings and arrows of outrageous fortune,
   Or to take arms against a sea of troubles,
   And by opposing end them ? to die : to sleep ;
   No more; and by a sleep to say we end.

कासियस की बातों में आकर अपने घनिष्ट मित्र सीजर का वध करने वाले षड्यंत्रकारियों का नेता बन जाता है।

प्रगति (Progression)

स्वनिर्मित अथवा पूर्व प्राप्त परिस्थिति में पड़ा हुआ नायक स्वेच्छा अथवा विवशता में अदूरदर्शिता के कार्यों में उलझता हुआ कार्य में प्रगति करता चलता है। प्रगति के मूल में नायक का संशयात्मक मन है। उसके मन में निरन्तर द्वन्द्व मचा रहता है। कभी केवल आन्तरिक द्वन्द्व के कारण और कभी आन्तरिक द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष के साथ-साथ कदम मिलाकर चलने के कारण कार्य में निरन्तर प्रगति होती रहती है।

शेक्सपियर अपने नाटकों में कार्य-प्रगति के लिए दैवी संयोग को भी स्थान देता चलता है। हम दैवी संयोग की चर्चा पूर्व कर आए हैं। हेमलेट के जहाज पर अकस्मात् आक्रमण हो जाता है, जिससे वह डेनमार्क वापस जाता है। संयोग और दुर्योग के योग से निर्बल चरित्र का नायक क्लाइमेक्स की ओर कार्य की प्रगति करता जाता है।

कलाकार कभी नायक को भ्रामक विचारों का शिकार दिखाकर, कभी उन्माद आदि रोगों के वशीभूत करके (क्राइसिस) चरमसीमा की ओर अग्रसर कराता जाता है।

चरम सीमा (Crisis)

जब नायक विरोधी परिस्थितियों से लड़ते-लड़ते संघर्ष की अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है तो उस अन्तिम स्थल को चरम सीमा (Crisis) कहते हैं।

कार्य की ओर झुकाव (Denouement)

संघर्ष जिन दो दलों में होता है, उसमें एक तो पराजित होता है, दूसरा विजयी। जिस स्थल पर एक पक्ष की विजय की, दूसरे की पराजय की पूरी सम्भावना हो जाय, वह स्थल कार्य की ओर झुकाव (Denouement) कहलाता है।

अन्तिम अवस्था (Catastrophe)

नाटक के अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ कार्य पूर्ण होने लगता है। इस अवस्था को अन्तिम अवस्था (Catastrophe) कहते हैं। यद्यपि 'कैटास्ट्राफी' की स्थिति सुखान्त और दुखान्त दोनों प्रकार के नाटकों में आती है, किन्तु इसका प्रयोग प्रायः दुखान्त नाटकों में ही किया जाता है। पश्चिम में आदिकाल से दुखान्त नाटकों को विशेष महत्व मिलता आ रहा है। अतः इस

शैली के सम्बन्ध में विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक है ।

भारतीय रंगमंच का विकास

रंगमंच का प्रादुर्भाव कब और किस प्रकार हुआ, यह बतलाना तो सर्वथा कठिन है, परन्तु इतना निश्चित है कि नाटक के साथ ही साथ इसकी भी उत्पत्ति हुई होगी, क्योंकि संस्कृत में नाटक दृश्यकाव्य कहलाता है और दृश्य वही कहलायेगा जो देखा जा सके और दिखाया जा सके । जिस प्रकार प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य सुनने या सुनाये जाने के कारण श्रव्यकाव्य कहलाते हैं, उसी तरह नाटक देखे जाने के कारण दृश्यकाव्य कहलाता है । नाटकों में अनुकरण एवं अभिनय की प्रधानता रहती है । अतः किसी स्थान पर रंगमंच के अभाव में नाटक का प्रदर्शन सम्भव नहीं । भारतीय रंगमंच के विकास-क्रम को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं : (१) पूर्वकालीन रंगमंच, (२) मध्यकालीन रंगमंच तथा (३) आधुनिक रंगमंच ।

पूर्वकालीन रंगमंच

पूर्वकालीन रंगमंच का विवरण नाट्यशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ मिलता है । प्रेक्षागृहों का वर्णन करते हुए भरतमुनि ने उन्हें तीन प्रकार का बतलाया है : विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र । प्रत्येक के माप के अनुसार पुनः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर—तीन विभाग किए हैं । इस तरह नौ प्रकार के प्रेक्षागृह होते हैं । नाटयशास्त्र की अभिनव भारती टीका के लेखक आचार्य अभिनवगुप्त ने—"एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इति केचित्, अन्येतु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः, एतदेव युक्तम्" लिखकर स्पष्ट ही प्रेक्षागृहों के नौ भेद उपयुक्त माने हैं । प्रथम विकृष्ट नामक प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए भरतमुनि ने ज्येष्ठ विकृष्ट को देवताओं के लिए, मध्यम विकृष्ट को राजाओं के लिए तथा अवर विकृष्ट को शेष सामान्य प्रजाजनों के लिए उपयुक्त बतलाया है । मध्यम विकृष्ट प्रेक्षागृह को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है ।

उसकी लम्बाई-चौड़ाई का विवरण देते हुए लिखा है कि वह ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौड़ा होना चाहिए । उसकी लम्बाई को दो भागों में विभक्त करके आधा भाग दर्शकों के लिए और आधा भाग रंगमंच के लिए रखना चाहिए । इस प्रकार ३२ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौड़ा चौकोर रंगमंच सर्वश्रेष्ठ माना है । रंगमंच की लम्बाई को पुनः दो भागों में विभक्त करके १६ हाथ नेपथ्यगृह के लिए तथा शेष १६ हाथ रंगपीठ और रंगशीर्ष के लिए छोड़ना चाहिए । रंगशीर्ष बनने के प्रायः तीन प्रयोजन थे : (१) पात्रों के विश्राम करने

के लिए व्यवस्था रहती थी। (२) पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण का रहस्य छिपा रहता था। (३) अभिनय-सम्बन्धी निर्देशन तथा कुछ आवश्यक पदार्थों के रखने के लिए भी यह उपयुक्त स्थान था।

रंगमंच प्रायः दो मंजिल के बनाये जाते थे। ऊपरी मंजिल में स्वर्ग आदि का दृश्य दिखाया जाता था। रंगमंच की सजावट नाटक के विषय एवं वर्णन-प्रधान रस के अनुकूल रहते थे। सारा रंगमंच लकड़ियों से बनाया जाता था। इसी कारण वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते थे। लगभग सभी रंगमंच राजाओं द्वारा ही बनाए जाते थे। वर्ण-व्यवस्था तथा प्रतिष्ठा के अनुसार सबके बैठने के लिए निश्चित स्थान होते थे।

रंचमंच का सारा कार्य सूत्रधार के हाथ में होता था। वह बड़ा ही कला-विद् तथा नृत्य, संगीत एवं अभिनय का आचार्य होता था। पात्रों को नाटक के अभिनय की शिक्षा दी जाती थी। समाज में उनका बड़ा आदर था।

नाटक दोपहर बाद ही खेले जाते थे और एक दिन में एक नाटक खेला जाता था। सन्ध्या से पूर्व अभिनय समाप्त हो जाता था, क्योंकि रंगमंच पर प्रकाश करने का उल्लेख नहीं मिलता। रंगमंच पर स्त्री का अभिनय स्त्री-पात्र ही करते थे।

गुप्तकाल में रंगमंच अत्यन्त विकसित अवस्था तक पहुँच गया था, क्योंकि उस काल में भास, अश्वघोष, कालिदास, शूद्रक आदि प्रसिद्ध नाटककारों के समस्त नाटक खेले गए। परन्तु अभी तक राजकीय रंगमंच ही विकसित हुआ था, सर्वसाधारण के लिए नाट्यगृह नहीं बने थे।

मध्यकालीन रंगमंच

भारत के शासन की बागडोर मुसलमानों के हाथ में आ गई थी। उनके द्वारा नाट्यकला को प्रोत्साहन नहीं मिला। किसी का रूप बनाना तथा वेश बदलने को वे धर्मविरुद्ध मानते थे। दूसरी ओर राजाओं का आश्रय समाप्त हो जाने से रंगमंच की सुव्यवस्था नहीं रही और जनता अपने मनोरंजन के लिए खुले मैदानों में स्वांग आदि के रूप में नाटक खेलने लगी। रामलीला, रासलीला आदि नाटक जनता में मनोरंजन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करते रहे। इसके लिए कोई विशेष रंगमंच का विधान नहीं होता था। परन्तु पात्रों की सजावट, सामूहिक तथा व्यक्तिगत नृत्य की योजना रहती थी। इस काल में रंगमंच का स्वरूप पहले जैसा न रहा। खुले मैदान में अभिनय प्रस्तुत करने के कारण विवाह तथा युद्ध आदि भी दिखाए जाने लगे। इस काल में भक्ति-

भावना अधिक बढ़ गई थी। अतः राम-कृष्ण आदि के जीवन-सम्बन्धी अभिनय ही प्रायः जनता के सामने प्रस्तुत होते थे, पात्रों को अभिनय की शिक्षा भी नहीं दी जाती थी। निर्देशक जनता के सामने ही पात्रों को बताता रहता था। साधारण ढंग के परिहास जनता के मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किये जाते थे। इस काल में अभिनेताओं का सम्मान नहीं होता था। इस तरह जनसाधारण में रंगमंच का विकास नहीं हुआ।

आधुनिक रंगमंच

अंग्रेजों के आगमन के उपरान्त ही आधुनिक रंगमंच का जन्म हुआ। अंग्रेजों द्वारा सन् १७४७ में रंगमंच की स्थापना कलकत्ते के फोर्ट में हो चुकी थी। सन् १७७५ में उसका पुनर्निर्माण हुआ। परन्तु इसमें केवल अंग्रेजी नाटकों का ही प्रदर्शन होता था। इसके बाद धीरे-धीरे नाटक कम्पनियाँ बनने लगीं। पारसी कम्पनी ने अपने रंगमंच का निर्माण किया। सन् १८६१ में बनारस थियेटर्स के अन्तर्गत शीतला प्रसाद लिखित 'जानकी मंगल' नाटक का अभिनय हुआ। सन् १८७० में ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी की नींव पड़ी। यह कम्पनी हिन्दुस्तानी के नाटक प्रस्तुत किया करती थी तथा इनके अभिनय में उछल-कूद, अश्लीलता आदि अधिक रहती थी।

हिन्दी रंगमंच का निर्माण अभी तक नहीं हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सत्यहरिश्चन्द्र नाटक पचासों जगह खेला गया। इसके साथ ही हरिश्चन्द्र-युग के अन्य नाटककारों के भी नाटक यत्र-तत्र खेले गए। पारसी कम्पनियों के द्वारा भी राधेश्याम कथावाचक के वीर अभिमन्यु, श्रवणकुमार आदि हिन्दी नाटक खेले गये, फिर भी जिस रंगमंच पर ये हिन्दी नाटक खेले गये, वह पारसी तथा अंग्रेजी रंगमंच से ही प्रभावित था।

सिनेमा के आगमन से समस्त नाटक कम्पनियाँ समाप्त हो गईं। अब केवल उत्सवों के अवसरों पर ही कहीं-कहीं नाटक देखने को मिलते हैं। मध्यकालीन रामलीलाएँ तथा रासलीलाएँ आज भी प्रचलित हैं, परन्तु नाट्यशास्त्र में उल्लिखित पूर्वकालीन रंगमंच का स्वरूप पूर्णतया लुप्त हो चुका है।

आधुनिक काल में पारसी कम्पनियों के निम्नकोटि के रंगमंच को देखकर उसके उत्थान के लिए नाटक मंडलियाँ बनाई गईं। ब्रजचन्द ने काशी में 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मंडली' की स्थापना की। प्रयाग में रामलीला नाटक-मंडली जिसका बाद में नाम हिन्दी नाट्य समिति रखा गया—की स्थापना हुई। बम्बई में प्रसिद्ध नेता पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर की स्थापना की है। यह

कम्पनी सुरुचिपूर्ण एवं समसामयिक नाटकों का प्रदर्शन करके एक संस्कृत रंगमंच का स्वरूप दर्शकों के सामने प्रस्तुत कर रही है। भारत सरकार ने नई दिल्ली में एक कला-केन्द्र की स्थापना की है। इन समस्त प्रयत्नों से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय रंगमंच पुनः अपनी विकासशील अवस्था पर पहुँचेगा।

रेडियो-नाटक

रेडियो-नाटक इस युग का नितान्त अभिनव आविष्कार है। रेडियो और रेडियो-नाटक पश्चिम की देन है। पश्चिम में रेडियो-नाटक कुछ पहले से लिखे जा रहे हैं और प्रगतिशील देशों में इनकी नाट्यकला निर्धारित होती जा रही है। हमारे देश पर भी उन नाटकों का प्रभाव पड़ा है, मंडनशिल्प के अनुसार रेडियो-नाटक के मुख्य भेद इस प्रकार किये जा सकते हैं: (१) रेडियो-रूपक, (२) फीचर, (३) ध्वनि नाट्य (मनोवैज्ञानिक), (४) स्वोक्ति, (५) फैन्टेसी (भाव नाट्य या ऋतु-सम्बन्धी), (६) ध्वनि-गीतिरूपक, (७) रिपोर्त्ताज, (८) जननाटक तथा (९) व्यंग्य।

१. **रेडियो रूपक** : नाटक की एक यह ऐसी शैली है जिससे नाटककार एक ही समय, एक ही स्थान पर सहस्रों वर्ष—वैदिक काल से प्रारम्भ करके आधुनिक काल तक—के प्रसिद्ध सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक उथल-पुथल का रूप प्रदर्शित कर सकता है। वह संकलनत्रय के बन्धन को भंग कर सकता है और रंगमंच की 'स्वगत' नामक प्रणाली को पूर्ण स्वाभाविक बना सकता है। उस पर अंकों और दृश्यों का कोई बन्धन नहीं रहता।

२. **रेडियो फीचर** : प्रसिद्ध उपन्यासों को नाटक रूप में उपस्थित करके रसास्वादन करने की रेडियो की इस शैली को फीचर कहा जाता है। सर ए० टी० क्विलर काउच (Sir A. T. Quiller Couch) के हाथों रेडियो की यह शैली विकसित हुई। इस शैली पर हिन्दी में प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यासों का रेडियो फीचर में रूपान्तर हुआ। रेडियो की यह शैली सूचनात्मक और प्रचारात्मक भी होती है। इसमें शुष्क विषयों पर प्रकाश डालने के लिए उससे सम्बद्ध बातों का नाट्य-सा किया जाता है। सुशील का 'पंचायत राज' इसका उदाहरण है।

३. **ध्वनि नाट्य** : वाचिका अभिनय इसका आधार है। इसमें कथोपकथन की प्रधानता रहती है। कुछ इसे अन्धों का सिनेमा कहते हैं। विष्णु प्रभाकर का 'बीमार' इसका उपयुक्त उदाहरण है।

४. **स्वोक्ति** : एक पात्रीय नाटक है। इसका रूप रंगमंच के एकांकी से भिन्न होता है। रंगमंच पर इसमें कथावस्तु का सुसम्बद्ध होना अनिवार्य नहीं परन्तु रेडियो पर कथा सुसम्बद्ध होनी ही चाहिये। इसका उदाहरण विष्णु-प्रभाकर का नाटक 'सड़क' है।

५. **फैन्टेसी (भावनाट्य)** : इसमें भावात्मक घटना एवं अनुभूति को स्वच्छन्द रीति से चित्रित किया जाता है। इसमें मानसिक चिन्तन का सतत प्रदर्शन रहता है। विष्णु प्रभाकर के दो नाटक 'अर्द्धनारीश्वर' और 'शलभ और ज्योति' उत्तम भावनाट्य हैं। रंगमंच पर भावनाट्य उस नाटक को कहते हैं, जिसमें अभिनय का हाव-भाव संगीत तथा नाटक के अन्य उपकरणों से अधिक प्रभावशाली हो। मुद्रा और अनुभावों के द्वारा भावों के प्रदर्शन का नाटक में प्रभुत्व रहने के कारण इसे भावनाट्य कहा जाता है। उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य' इसका उदाहरण है।

६. **ध्वनि-गीतिरूपक** : इसका माध्यम कविता है। आन्तरिक संघर्ष की प्रधानता रहती है। कार्य की अपेक्षा भाव का महत्व अधिक होता है। वृहद् कथा की संक्षिप्ति के लिए वाचक-वाचिका का प्रयोग होता है। भगवतीचरण वर्मा का 'कर्ण', सुमित्रानन्दन पंत का 'शिल्पी', 'शुभ्रपुरुष' इसके उदाहरण हैं।

७. **रिपोर्त्ताज** : यह नाटक की अभिनव पद्धति है जो विगत युद्धकाल में आविष्कृत एवं विकसित हुई। द्वितीय महायुद्ध में महत्वपूर्ण घटनाओं, उनके कारणों और परिणामों को समीप से जानने के लिए जनता क्षण-क्षण व्यग्र थी, क्योंकि उसके परिणामों से कोई बचा नहीं था। सबका ध्यान पत्र-पत्रिकाओं तथा रेडियो पर लगा था। इस असाधारण परिस्थिति में कलाकारों ने ऐसे अभिनव नाट्य विधान का आविष्कार किया, जो घटना और घटनाक्रम के इतिहास, घटनास्थल के वातावरण और घटना में भाग लेने वाली शक्तियों की गतिविधि, वादे-इरादे, रीति-नीति पर पर्याप्त प्रकाश डाल सके। इसमें कलाकार किसी घटना या वर्ण्य वस्तु का वर्णन इस प्रकार करने लगा मानो घटना से सीधा सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति उसका अंग बन गया हो। गणतन्त्र दिवस, स्वतन्त्रता दिवस, क्रिकेट मैच, कुम्भ मेला आदि विशेष अवसरों पर रेडियो से जो समाचार प्रसारित होते हैं, उनकी यही शैली है।

पत्र-पत्रिकाओं में युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त सांस्कृतिक रिपोर्त्ताज भी लिखे गये हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम रूसी लेखक लियोनिदलियोनोव का सोवियत रिपोर्त्ताज हंस के 'शान्ति संस्कृति अंक' से प्रकाशित हुआ। प्रगतिशील लेखकों

ने हिन्दी में रिपोर्ताज लिखने का प्रयत्न किया है। आशा है कि भविष्य में हमारी भाषा में ऐसे रिपोर्ताज लिखे जाएँगे जो इस समृद्ध भाषा के उपयुक्त होंगे।

८. **जन-नाटक** : रेडियो द्वारा जन-नाटक को प्रोत्साहन मिला है। ग्रामीण जनता के विनोद के लिए जो नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं, वे ही जन-नाटक हैं; जैसे—रास, स्वाँग, ढोलामारू, निहालदे, नौटंकी। जन-नाटकों ने देश के संकट-काल में सांस्कृतिक विचारों की निरन्तर रक्षा की है। ग्रामीण जनता में किसी नवीन विचार की स्थापना और प्रचार के लिए जन-नाटकों से बढ़कर कोई दूसरी युक्ति नहीं है।

६. **व्यंग्य** : इस नाटक में वाग्वैदग्ध्य, कटाक्ष एवं चुभते व्यंग्य के द्वारा समाज की कुरीतियों, कुप्रवृत्तियों और आडम्बरमय विधि-विधानों का उपहास किया जाता है। 'अश्क' का 'अधिकार का रक्षक' भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक', विष्णुप्रभाकर का 'काँग्रेसमैन बनो' और उदयशंकर भट्ट का 'दस हजार' हिन्दी के प्रसिद्ध व्यंग्य-नाटक हैं।

रंगमंच के नाटक और रेडियो-नाटक

"स्टेज के नाटक कुछ हेर-फेर के साथ रेडियो के उपयुक्त बनाये जा सकते हैं"—यह विचार विवादास्पद है। कुछ लोग समझते हैं कि रेडियो-नाटक एकांकी ही है, पर कई समालोचक इसे भ्रमपूर्ण मानते हैं। अभी तक हमारे देश में रेडियो-नाटक बाल्यावस्था में है। जब तक रेडियो की नाट्यकला विकसित नहीं हो जाती, तब तक कोई निर्दिष्ट मत नहीं बन सकता, किन्तु यह सत्य है कि रंगमंच के सभी नाटक रेडियो पर सफल नहीं बनाए जा सकते हैं।

अन्तर

१. रंगमंच पर आंगिक अभिनय का प्राधान्य होता है। नृत्य का समावेश करके नाटक सरस बनाए जाते हैं। इन साधनों का नितान्त अभाव रेडियो-नाटक में होता है, अतएव इस अभाव की पूर्ति ध्वनि के साधनों द्वारा करनी पड़ती है।

२. रंगमंचीय एकांकी नाटकों को कार्य, काल और स्थान की इकाई—संकलनत्रय—का बन्धन किसी न किसी मात्रा में मानना पड़ता है, किन्तु रेडियो-नाटक इन बन्धनों से नितान्त मुक्त है।

३. जो स्वगत-कथन अथवा स्वप्न-सम्भाषण रंगमंच पर अस्वाभाविक प्रतीत होता है, वह रेडियो पर स्वाभाविक बन जाता है। अतएव रेडियो-नाटक

में हृद्गत भावों को प्रकट करने में सुविधा हो जाती है।

४. रेडियो-नाटक का प्राण संवाद-योजना है, किन्तु रंगमंचीय नाटक का आवश्यक अंग क्रियाशीलता है। रंगमंचीय नाटक में पात्रों के संवाद से अधिक प्रभाव उनके क्रिया-कलाप का पड़ता है।

५. रंगमंच पर नाटकीय पात्रों के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रवेश वर्जित है। नाटक की सम्पूर्ण घटनाएँ पात्रों के सम्भाषण तथा क्रियाकलाप द्वारा प्रकट की जाती हैं, परन्तु रेडियो-रूपक में 'कथाकार' नामक एक व्यक्ति वर्णन (Narration) के द्वारा पूर्वापर घटनाओं को संयुक्त करता चलता है। रंगमंचीय नाटकों में विष्कम्भक और प्रवेशक का जो कार्य होता है, रेडियो-नाटक में उसे एक कथाकार वर्णन के रूप में रखता चलता है।

हिन्दी में एकांकी नाटकों को रेडियो द्वारा प्रोत्साहन मिला। आज का नाटककार ऐसे एकांकी लिखने का प्रयास करता है जो रंगमंच और रेडियो-स्टेशन दोनों पर सफल हो सकें। यह मोह नाटककार और नाट्यकला दोनों के लिए हानिकर है। दोनों के पृथक् तन्त्र (टेकनीक) हैं, दोनों के पृथक् प्रयोग हैं। बी० बी० सी० के एक प्रसिद्ध नाटककार का अनुभव है कि "रंगमंच के लिए लिखा गया नाटक कदाचित् ही रेडियो पर सफल हो।" दोनों प्रकार की कला से परिचय प्राप्त करके एकांकी लिखे जाएँगे तो अवश्य ही अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त हो सकेंगे। नाटककार को स्मरण रखना चाहिए कि रंगमंच के नाटक का माध्यम है आंगिक और आहार्य अभिनय—सिनेमा का चलचित्र, किन्तु रेडियो-नाटक का माध्यम है माइक्रोफोन—स्वर-प्रक्षेपण यन्त्र। अतः माध्यम के पार्थक्य से तन्त्र में अन्तर होना स्वाभाविक है।

रेडियो-नाटक का भविष्य

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के जितने नाटक आज रेडियो-स्टेशनों पर अभिनीत होते हैं, उतने सिनेमा की प्रयोगशालाओं में भी न होते होंगे। इसलिए नाट्यकला का भविष्य रेडियो-रूपक के रचयिताओं के हाथ में है। पश्चिम में यह कला बहुत विकसित हो चुकी है, किन्तु हिन्दी में अनुकरणमात्र से इस नाट्यकला का विकास सम्भव नहीं। आश्चर्य यह है कि रेडियो-रूपक के तन्त्र अर्थात् टेकनीक के ऊपर हिन्दी भाषा में कोई प्रामाणिक ग्रंथ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। नित्यप्रति रेडियो-रूपक प्रसारित किये जाते हैं, सहस्रों व्यक्ति उन्हें सुनते हैं, किन्तु रेडियो की नाट्यकला पर गम्भीरता से विचार करने वाला एक भी ग्रंथ अभी तक नहीं लिखा गया है।

नवाँ अध्याय

हिंदी उपन्यास और उसके तत्त्व

उपन्यास का महत्व

वर्तमान युग को 'वैज्ञानिक युग' की संज्ञा दी गई है। सब बातों को तार्किक ढंग से सोचना, उन्हें क्रमबद्ध युक्तियुक्त ढंग से कहना आज के युग की विशेषता है। यदि वक्तव्य वस्तु स्पष्ट न होकर वास्तविकता से परे है तो स्वीकार्य नहीं। आज का युग भाव-प्रवणता का निराकरण करता है; विचार की गहराई का समर्थन करता है। भावोन्मेष में यदि कविता का जन्म होता है तो विचार-गांभीर्य में गद्य का परिमार्जन। अतः आज के घोर वैज्ञानिक युग में कविता का जीवन खतरे में है। पाश्चात्य कलाविद् कविता के भविष्य के विषय में चिन्तित हैं। उन्हें भय है कि आगे कविता का अस्तित्व ही न मिट जाय। लुई पाउण्ड (Louise Pound) ने अपने 'फ्यूचर आफ़ पोइट्री' (Future of Poetry) नामक लेख में इस शंका को स्पष्ट कर दिया है।

विज्ञान के साथ ही साथ गद्य का उद्भव और उत्कर्ष होता है। आज विज्ञान की चरमावस्था में गद्य का चरमोत्कर्ष है। पद्य के उत्कर्ष में काव्य और महाकाव्य की रचना होती है। गद्य के उत्थान में एक ओर लेख, निबन्ध, प्रबन्ध की रचना होती है तो दूसरी ओर कथा, आख्यायिका और उपन्यास की। गद्य के परमोत्कर्ष में ही उपन्यास का परमोत्कर्ष होता है। अतः विज्ञान के कारण आज का युग गद्य का युग है, और उपन्यास का बोलबाला है। साहित्य-रचना के समग्र अंगों को हराता हुआ यह उपन्यास आज साहित्य-संसार का मूर्धन्य बन गया है। युग के प्रभाव से उपन्यास ने ऐसी प्रगति की कि १८६२ ई० में ही आलोचक साँ-बो (Sainte-Beuve) को यह मानना पड़ा कि उपन्यास में सब कुछ लय होता जा रहा है। इसके क्षेत्र में सब विषयों का समावेश हो जाता है।[1]

उपन्यास सभ्य और सुसंस्कृत बनाने के लिए आज एक उपकरण बन गया है। जब भी दो-चार छात्र आपस में मिलते हैं तो सहज ही प्रश्न

---

1. Every thing is being gradually merged into the novel. There is such a vast scope and its form lends itself to every thing. —Sainte-Beuve.

करते हैं—आज का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कौन है ? कोई तो जेम्स ज्वायस को महत्व देता है, कोई जेन आस्टिन (Jane Austen) को; कोई जार्ज ईलियट (George Eliot) का प्रशंसक होता है। जहाँ भी देखिये, इसी प्रकार उपन्यासों की चर्चा, लेखक की स्तुति, चरित्रों की प्रशंसा और आलोचना सुनने को मिलती है। गृहस्थाश्रमियों के लिए तो यह घर का सिनेमा बना हुआ है, और प्रत्येक घर में रामायण की तरह ही सुरक्षित है, क्योंकि आज के जीवन की झाँकियाँ उन्हें इन उपन्यासों में मिल जाती हैं। उपन्यास में समाज की यथार्थ जीवनविधि का दर्शन होता है, अतः वर्तमान युग के वास्तविक जीवन को दिखाने के लिए उपन्यास सच्चा प्रतिनिधि है।

उपन्यास की भारतीय परम्परा

यह उपन्यास अपने वर्तमान स्वरूप में यद्यपि नया है, परन्तु इसकी परम्परा अन्य रूपों में भारतीय साहित्य में अखण्ड और अजस्र रूप से बहती हुई चली आई है। यदि अधिक मीन-मेष न किया जाय, तो उपन्यास के स्रोत को ढूँढ़ते हुए हम वेदों तक पहुँच सकते हैं। वेद, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सम्पूर्ण ज्ञान का भाण्डार है। देश और काल के प्रभाव से इसमें व्यक्त ज्ञान विविध धाराएँ ग्रहण करता गया है और नवयुग के अनुरूप जनरुचि के अनुसार नया नाम धारण करता चला गया है। उपन्यास का सामान्य लक्षण है—'जीवन का कल्पनाजन्य विवेचन,'—और जीवन के रहस्य का सर्वप्रथम उद्घाटन करने वाला 'वेद' है। ब्रह्म और जीव, ब्रह्म और माया, माया का मानव को मर्कट की भाँति नचाना, माया और मृत्यु, मृत्यु के बाद जीवन, ब्रह्म और जीव का मिलन यह सब कल्पना के द्वारा ही जीवन का निरूपण है। कल्पना के माध्यम से जीवन का विश्लेषण करने वाला वेद विश्व में प्रथम प्रयास है। अतः उपन्यास की मूल प्रेरणा वेद में निहित हो सकती है। उर्वशी और पुरुरवा, यम और यमी, अगस्त्य और लोपामुद्रा की कथा में उपन्यास का आदि स्रोत माना जा सकता है।

यह कल्पनामय विश्लेषण विभिन्न ढंगों से विभिन्न प्रतीकों द्वारा मनुस्मृतियों, उपनिषदों से होता हुआ पुराणों तक पहुँचता है। यहाँ आने पर जीवन का विवेचन अधिक स्पष्ट होता है। कल्पना के साथ जीवन का अधिक मिश्रण प्रारम्भ हो जाता है। कथा के रूप में उसकी व्याख्या होने लगती है। कल्पना का योग अनुपाततः कम होने लगता है। विशिष्ट चरित्रों को लेकर वे कथाएँ लिखी जाने लगती हैं। विशेषकर उक्त कथाओं के नायक देवगण ही रहते हैं। धीरे-धीरे राजाओं को भी उस कोटि में स्थान मिलने लगता है। इस

प्रक्रिया में कल्पना से अधिकाधिक हटकर वास्तविकता की ओर बढ़ने का प्रयास है।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने अनुकूल भाव, विचार और आचार देख-कर या सुनकर मनुष्य आत्मीयता का अनुभव करते हुए प्रसन्न होता है। उसमें उसकी रुचि हो जाती है। उसके सामीप्य से उसे आनन्द प्राप्त होता है। पुराणों में इस प्रकार की कथाएँ—जो मानवीय गुणों व विकारों—प्रेम, दया, दान, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि का विवेचन करती थीं—लोगों द्वारा समादृत हुईं ; क्योंकि उनमें उन्हें अपनेपन की अनुभूति हुई। अतः ये कथाएँ परोक्ष रूप में मनोरंजन भी करने लगीं। अवकाश काल में इनका पारायण और श्रवण कर लोग श्रम-परिहार करने लगे और उनसे ज्ञान और बुद्धि का परिष्कार भी। अतः पुराणों तक आते-आते जीवन का विवेचन प्रारम्भ हो जाता है, जो सुरुचि-पूर्ण होता है और मनोरंजन भी करता है।

पुराणों की इन कथाओं को यदि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो हमें उनमें उसी प्रकार की तन्मयता लाने की शक्ति मिलती है, जैसी की आज के उपन्यास में। मनोरंजन करने का भी उनमें सामर्थ्य है और कल्पना का भी पुट है। यह जीवन को सरल और स्पष्ट ढंग से व्यंजित करने की कला है। अतः कथा-साहित्य को पुराणों से सम्बल मिला है, इसमें सन्देह नहीं।

उपन्यास के ढंग पर बड़ी कहानियों के ग्रन्थ कादम्बरी, दशकुमारचरित, वासवदत्ता आदि हैं। उनसे छोटी कहानियों के उदाहरण हमें, बौद्धजातक, बृहत्कथा, हितोपदेश, पंचतंत्र, द्वात्रिंशतपुत्तलिका आदि कई ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इस प्रकार हम भली प्रकार देखते हैं कि संस्कृत साहित्य में कहानी का प्राचुर्य रहा है। गुलाबराय जी का तो मत यह है कि "इस दिशा में भारतवर्ष और देशों का गुरु कहा जा सकता है।" किन्तु उपन्यास की श्रेणी में केवल बाण की 'कादम्बरी' और दण्डी का 'दशकुमारचरित' ही आ सकते हैं। बाण की कादम्बरी की ख्याति तो इतनी बढ़ी कि वह मराठी भाषा में उपन्यास के लिए एक व्यापक पर्याय हो गया है और अब उपन्यास के स्थान पर प्रचलित है।

"हिन्दी में संस्कृत के आधार पर लिखी गई 'किस्सा तोता मैना', 'सिंहासन बत्तीसी' आदि कुछ बड़ी कथाएँ लोगों का मनोरंजन करती रहीं, किन्तु ये जनता की वस्तुएँ थीं, साहित्य की नहीं। साहित्यिक कथाओं का प्रारम्भ मुंशी इन्शा-अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी', जिसका दूसरा नाम उदयभान-चरित था और सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' से होता है। इनमें एक चलती भाषा में साहित्यिक सौष्ठव लाने का अधिक प्रयत्न है।" यह भारतीय परम्परा की रामकहानी है।

पाश्चात्य परम्परा

वर्तमान उपन्यास भारतीय परम्परा की ही देन नहीं, इस पर पाश्चात्य प्रणाली का पर्याप्त प्रभाव स्पष्ट है। अतः पाश्चात्य उपन्यास की परम्परा के प्रभाव को जाने बिना वर्तमान हिन्दी उपन्यास का ज्ञान अधूरा और अपूर्ण रहेगा। पर दोनों परम्पराओं में अद्भुत् साम्य है। जिस प्रकार हमने अभी देखा कि वर्तमान उपन्यास का अंकुर हमें वेदों में मिल सकता है, उसी प्रकार पाश्चात्य उपन्यास—जिसे आदि अवस्था में 'फिक्शन' (Fiction) की संज्ञा दी गई है—के मूल को हम बाइबिल में ढूँढ़ सकते हैं। रूथ की कहानी आज किसी भी उपन्यास से कम मर्मस्पर्शिणी नहीं। रिचार्ड बर्टन इसे स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि बाइबिल में आए हुए रूथ के इतिवृत्त को यदि हम उपन्यास का नाम दें (जो कि इतिहास का कल्पनाजन्य विवेचन होने के नाते सचमुच है भी) तो उपन्यास का अस्तित्व पुरातनकाल में माना जा सकता है।[1]

यद्यपि बर्टन का यह मत प्रस्ताव रूप में है परन्तु उनका विचार स्पष्ट है कि कथा-साहित्य या वर्तमान उपन्यास का स्रोत बाइबिल में ही निहित है। यह परम्परा बोवुल्फ (Beowulf) और किंगहार्न (King-Horn) से होती हुई मध्ययुगीन गद्य कथा-साहित्य तक अग्रसर होती है, जिसका जीता-जागता उदाहरण मैलोरी (Malory) का मार्टि डि आर्थर (Morte De Arthur) है। मध्ययुगीन काल में फ्रांस और स्पेन में इसकी रचनाएँ हुई हैं। इस कथा-साहित्य में प्रेम (Love) और युद्ध (War) का वर्णन है। ये शौर्य और साहस की कौतूहलमय कहानियाँ हैं। स्मरण रखना चाहिए कि कथा-साहित्य (Fiction) की वृद्धि और उपन्यास के विकास में इन्होंने बड़ा योगदान दिया है। उनके आगे लिली (Lyly) और लॉज (Lodge) इस कथा-साहित्य को गति देते हैं। जैक विल्टन (Jack Wilton) जैसी साहस की कहानियाँ लिखी जाने लगीं और डैनियल डिफो का रॉबिन्सन-क्रूसो कथा-साहित्य को पुष्ट करने वाली आदिम रचना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में आरम्भ फिक्शन (Fiction) या कल्पनाजन्य कथा से होता है, जिसका मूल हमें पवित्र धार्मिक

1. If the name Fiction be allowed for a Bibical narration like the Book of Ruth, which in the sense of imaginative and literary handling of material, it certainly is, the great antiquity of the form may be conceded. —Richard Butron

ग्रन्थ वेद और बाइबिल में मिलता है। दोनों परम्पराओं में इसका विकास होता है और अन्त में दोनों जगह इसकी स्वतन्त्र वैयक्तिक और प्रभुत्वमयी सत्ता दृढ़ हो जाती है। फिक्शन (Fiction) आगे चलकर नावेल (Novel) का स्वरूप धारण कर लेता है, और कथा-साहित्य उपन्यास का।

उपन्यास की व्युत्पत्ति

उपन्यास शब्द आधुनिक युग की ही उपज नहीं, वरन् इसका वर्णन हमें प्राचीन संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध है। मुख्य रूप से इसकी दो प्रकार की व्याख्याएँ की गई हैं। पहली व्याख्या है: "उपन्यासः प्रसादनम्" अर्थात् उपन्यास का मूल ध्येय पाठकों को प्रसन्न करना है, उनका मनोविनोद और मनोरंजन करना है। इसका सूत्रपात हमें पौराणिक कथाओं से ही मिलता है। पौराणिक कथाओं में एक ओर धर्म के उपदेश में शिक्षा का पक्ष है तो दूसरी ओर रुचिकर कहानियों से मनोरंजन का। मनोरंजन उपन्यास का अनिवार्य धर्म है। इसकी आवश्यकता और महत्ता अब तक अक्षुण्ण बनी हुई है। जिस कथात्मक साहित्य में 'प्रसादन' का गुण न हो, वह उपन्यास की कोटि में नहीं आ सकता। यदि आ भी जाये तो प्रशंसनीय नहीं बन सकता। इसकी जीवनावधि क्षणिक होगी।

दूसरी व्याख्या इस प्रकार है: "उपपत्तिकृतो ह्यर्थः उपन्यासः संकीर्तितः" अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। इस विश्लेषण का तात्पर्य यह है कि उपन्यास दो संयुक्त शब्दों से बना है। 'उप' उपसर्ग है जो 'न्यास' शब्द से जुड़ा हुआ है। 'उप' का अर्थ है 'उपपत्तिकृतः'। उपपत्ति शब्द के स्वयं कई अर्थ हैं। उपपत्ति का मतलब होता है 'हेतु द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का निश्चय।' दूसरे अर्थ हैं 'चरितार्थता', 'संगति' और 'युक्ति'। न्यास शब्द का अर्थ है—'स्थापन'। अतः हेतु द्वारा स्थितियों का निश्चय करना, उनमें संगति और सामञ्जस्य बैठाना या तार्किक ढंग से उनकी चरितार्थता या वास्तविकता की व्यंजना करना, उपन्यास का धर्म है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उपन्यास जीवन के अत्यन्त निकट आकर इसका खाका खींचता है।

उपन्यास का आंग्ल पर्यायवाची शब्द नावेल (Novel) है। नावेल का अर्थ है 'नवीन'। जब फिक्शन (Fiction) में कल्पना की अतिशयता खटकने लगी, तब बुद्धि ने इसका अनुमोदन न किया और इसे गल्प करार दिया। १७वीं शताब्दी में इस अतिशयता की प्रतिक्रिया हुई। कलाविद् सँभले। उन्होंने कल्पना

को न्यून श्रेय देना प्रारंभ किया और वास्तविक जीवन को अधिक। कथा-साहित्य में यह एक नवीन आन्दोलन था। यह नया मार्ग था अतः इसका नाम नावेल (Novel) पड़ा। स्टील ने फिक्शन या रोमांस का निषेध करते हुए लिखा कि अब मनुष्य का मनुष्य के प्रति स्नेह फिक्शन न बनाकर नावेल प्रस्तुत करेगा।[1]

यहाँ नावेल का जन्म होता है। यहाँ से धारा नया मोड़ लेती है। इसके परिणामस्वरूप रिचार्ड्सन के 'पमिला' (Pamela) नामक उपन्यास का १७४२ में प्रकाशन होता है। यद्यपि १७वीं शताब्दी के अन्त में कॉन्ग्रीव (Congreve) में ही हमें यह अन्तर स्पष्ट होने लगता है फिर भी उपन्यास के रूप में पमिला ही सर्वप्रथम कृति है। अतः रिचार्ड्सन 'नावेल' का जन्मदाता माना जाता है।

'नावेल' का आधुनिक भारतीय साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। भारत की कुछ भाषाओं में 'नावेल' अपने शाब्दिक अर्थ में ही अनूदित हो गया है। मराठी भाषा में अंग्रेजी शब्द के आधार पर 'नवल कथा' शब्द गढ़ लिया गया है और अंग्रेजी उपन्यासों के अनुकरण की तो जैसे बाढ़ सी आ रही है।

हिन्दी भाषा में भी उपन्यास का स्वरूप तो अवश्य बदला पर नाम वही रहा। कारण यह प्रतीत होता है कि उपन्यास की पहली व्याख्या 'उपन्यासः प्रसादनम्' यदि रोमांस या फिक्शन का अधिक अनुमोदन करती थी, तो दूसरी व्याख्या नावेल के अधिक समीप आती थी। अतः उपन्यास शब्द ज्यों का त्यों बना रहा।

उपन्यास का सामान्य अर्थ स्पष्ट है। 'उप' का अर्थ होता है सामने या पास—जैसे उपस्थित में 'उप' का। 'न्यास' का अर्थ होता है क्षपण, या स्थापना। अतः संयुक्त रूप में उपन्यास का अर्थ हुआ—वांछित विषय का स्पष्टरूप से सामने प्रकाशन या स्थापन। जीवन की गुत्थियों एवं गुह्यतम ग्रन्थियों को निःसंकोच रूप से सबके सामने रख देना, उपन्यास शब्द का आशय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान समय में पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों उपन्यास इस अर्थ को सार्थक कर रहे हैं।

उपन्यास की विविध परिभाषाएँ

उपर्युक्त व्याख्या उपन्यास का व्युत्पत्तिपरक अर्थ देती है। जब उपन्यास के

---

1. Our amours can't furnish out a Romance, they will make a very pretty Novel. —Steele

लिए समाज और जीवन की गुह्यतम ग्रन्थियों को निस्संकोच रूप से सबके सामने रखने की छूट मिली तब विभिन्न कलाकारों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से अपनी-अपनी अनुभूतियों द्वारा जीवन को परखना प्रारम्भ कर दिया। वे अपनी कला-सम्बन्धी योग्यता और शक्ति-सीमाओं के अनुसार विवेचन में दत्तचित्त हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि अपने मार्ग को सबसे अधिक सही बतलाते हुए वे लोग उपन्यास की अपनी-अपनी परिभाषाएँ बनाने लगे। जब तक उपन्यास की बाग-डोर हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री के हाथ में रही उपन्यास का स्वरूप 'कल्पित कथा' का था। प्रेमचन्द जी तक आते हुए हम इसके स्वरूप को परिवर्तित पाते हैं। उन्होंने कहा है : "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"

प्रसाद जी प्रेमचन्द जी से एक कदम आगे निकल जाते हैं। उनका ध्येय केवल मानव का चरित्र-चित्रण ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण वास्तविकता और यथार्थता का चित्रण है। वे लिखते हैं : "मुझे कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में 'यथार्थ' का आँकना सरल प्रतीत होता है।" प्रसाद जी के उपन्यास विशेषतः यथार्थवादी हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा का ऐतिहासिकता से स्नेह है। वे लिखते हैं : "मुझ को हिस्टारिकल रोमांस पसन्द है। बाल्यकाल से ही अपनी आँखों के चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता आया हूँ। अपने कानों से उसकी विस्मय-गाथाएँ सुनता रहा हूँ। अतः कल्पना से मैं दोनों को जोड़ता हूँ।"

जैनेन्द्र जी का मत है : "पीड़ा ही में परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्मपीड़न के ही साधन हैं। इसीलिए मैंने उनमें कामवृत्ति की प्रधानता रखी है। क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्मपीड़न का तीव्रतम रूप है।"

भगवतीप्रसाद वाजपेयी पीड़ा से आज के मानव की मुक्ति नहीं मानते। उनका कथन है कि "मानव की मुक्ति जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे गांधी या शरत् नहीं बनना, शोलोखोव और स्टालिन बनना है।" वात्स्यायन जी कहते हैं कि "अपने उपन्यासों में मैं स्वयं हूँ और उनमें विश्लेषण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है।" इनके उपन्यास जीवन-चरित्रपरक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक हिन्दी उपन्यासकार अपने मत की स्थापना करता है, दूसरे की अवहेलना। अतः हिन्दी उपन्यास की परिभाषा विवादग्रस्त हो जाती है और सर्वमान्य मानदंड का अभाव प्रतीत होता है।

समन्वित परिभाषा

परन्तु इस विवाद का अन्त करना अनिवार्य है। हमें इन सब में सामञ्जस्य की स्थिति लानी है। ऐसी समुचित परिभाषा का निर्माण करना है जो समग्र विवादों को समेट ले। डा० श्यामसुन्दरदास की उपन्यास की परिभाषा इस विवाद का बहुत अंश तक निराकरण करती है। "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।" परन्तु यह उपन्यास के मूर्धन्य लक्षण को छोड़ देती है— जिसके बिना संसार का कोई उपन्यास अछूता नहीं रह सकता। वह लक्षण है प्रेम (Love) का। रिचार्ड बर्टन की परिभाषा अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वह इस प्रकार है : "उपन्यास गद्य में रचित, कवि के समकालीन जीवन का अध्ययन है। समाज के उत्थान की भावना से अनुप्राणित हो, कलाकार इसकी रचना करता है। इसके लिए वह प्रेमतत्व को प्रधान साधन बनाता है, इसलिए कि प्रेम ही एक माध्यम है जो मनुष्य को सामाजिक बन्धनों में बाँध देता है।"[1]

यह व्यापक समन्वय है। इसकी सीमा में सभी अतीत, वर्तमान और उदीयमान कलाकार समाहित हैं।

उपन्यास के तत्व

काव्य या साहित्य के सभी अंगों में लगभग समान तत्वों की ही आवश्यकता होती है। सब तत्व मिलकर जीवन की समुत्तम अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करते हैं—केवल कथा में प्रकारान्तर के कारण ही रचनाएँ विभिन्न नाम ग्रहण कर लेती हैं, मूल में वस्तु और विषय एक ही होते हैं। उपन्यास के तत्वों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है : (१) कथावस्तु, (२) चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) वातावरण, (५) उद्देश्य, (६) शैली।

"उपन्यासकार अपनी सुरुचि और आवश्यकता के अनुकूल भिन्न-भिन्न तत्वों पर अधिक बल देते हैं। वास्तव में ये तत्व एक दूसरे से मिले रहते हैं और इन्हें अलग-अलग सत्ता देना उतना ही कठिन है जितना कि किसी सुन्दर फूल से उसका रंग अलग करना। प्रेमचन्द सरीखे कलाविद् कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक बल देते हैं तो मार्क्सवादी उपन्यासकार उसकी घटनाओं की छानबीन

---

1. It is a study of contemporary society with an implied social interest and with a special reference to love as a motor force simply because it is love which binds together human beings in their social relations. —Richard Burton

में या कथावस्तु पर। यह बल कलाकार के आदर्श और उद्देश्य पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है, परन्तु उन्हें सब तत्वों को आनुपातिक परिपाक करना आवश्यक होता है।"[1] अब इन तत्वों का अलग-अलग विवेचन कर लेना चाहिए।

कथावस्तु

कथावस्तु उपन्यास का महत्वपूर्ण अंग है। जिस प्रकार नाटक में अभिनय के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि प्रभावोत्पादक होती है, उसी प्रकार भित्ति चित्रकला में और कथावस्तु उपन्यास में। उपन्यास की कला की सफलता मूलतः कथानक के चयन पर आश्रित है। विषय-चयन के साथ-साथ कलाकार की कुशलता घटनाओं के उचित विन्यास में है।

उपन्यासकार को संगति और क्रम का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है। औचित्य और अनौचित्य पर उसे सदा दृष्टि रखनी होती है। वह सदा सतर्क रहता है कि वांछित कथानक के लिए कौन वस्तु ग्राह्य हो और कौन अग्राह्य। "घटनाओं को कलापूर्वक गूँथना उपन्यास की सफलता है। अस्त-व्यस्त घटनाएँ ही कथावस्तु का निर्माण नहीं कर सकतीं।"[2]

कथावस्तु के अन्य गुणों के साथ-साथ तीन गुण नितान्त आवश्यक हैं : (१) रोचकता, (२) संभाव्यता तथा (३) मौलिकता।

१. **रोचकता :** साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा उपन्यास में रोचकता का बहुत महत्व है। यही रोचकता उपन्यास और उपन्यासकार के भाग्य की निर्णायिका होती है। इसके अभाव में उपन्यास नीरस हो जाता है और लेखक को पुरस्कार में गालियाँ मिलती हैं। इस रोचकता को स्थिर रखने वाले दो उपकरण हैं : (१) कौतूहल और (२) नवीनता। 'इसके बाद क्या हुआ ?' की जिज्ञासा पाठक को उपन्यास में तल्लीन किए रहती है। इसलिए उपन्यासकार कौतूहल बनाए रखने के लिए बातों को छिपाते हुए कहता है। नवीनता के कारण पाठक का मन उचटता नहीं, उसमें रमता जाता है।

२. **संभाव्यता :** उपन्यास मानव-जीवन का अध्ययन उसके बहुत समीप पहुँचकर करता है। बारीक से बारीक बातें भी छूटने नहीं पातीं। अतः कथावस्तु में घटनाओं का संभाव्य होना आवश्यक है। अन्यथा पाठक इसे गल्प

---

१. बाबू गुलाबराय—काव्य के रूप

2. A simple series of events arranged along a single strand of causation may not properly be called a plot. The word 'Plot' signifies a weaving together. —Clayton Hamilton.

करार देगा। उसकी सहानुभूति हट जाएगी। क्योंकि "पाठक पात्रों के साथ अपने जीवन का मिलान करते हैं। घटनाओं में अपने जीवन के अनुरूप ही झाँकियाँ देखना चाहते हैं। अतः कलाकार को संसार का यथार्थ ज्ञान होना अनिवार्य है।"[1]

३. **मौलिकता :** कथावस्तु यदि पिष्टपोषित होगी हो वह पाठकों का उचित मनोरंजन न कर सकेगी अतः रचना मौलिक होनी चाहिए। पर मौलिकता की यह समस्या बड़ी ही कठिन है। इस कसौटी पर जो उपन्यासकार निखर उठता है, वह अपना स्थायी स्थान बना लेता है। कथावस्तु में मौलिकता के साथ-साथ वर्णन के ढंग में भी नवीनता होनी चाहिए। उपन्यासकार को चाहिए कि वह नयी कहानी दे, नया दृष्टिकोण दे और नया मार्ग दिखाए।

चरित्र-चित्रण

ज्ञान, इच्छा और क्रिया से सम्पुष्ट—मनुष्य का रूप और आकार हम पहली झाँकी में देखते हैं और उसके भाव-विचार को उसके निकट सम्पर्क में आने के बाद। चरित्र-चित्रण में मनुष्य का बाह्य और अन्तः दोनों स्वरूपों का समावेश होता है। रूप और अंग-विन्यास तथा कार्य-कलाप से उसका बाह्य रूप प्रकट होता है; उसके वार्तालाप से उसके विचार व्यक्त होते हैं जिनके द्वारा हम उसके हृदय और मस्तिष्क की परीक्षा करते हैं। मनुष्य के चरित्र को आँकने के लिए उपन्यास में दो चित्रण-विधियां प्रधान रूप से प्रचलित हैं।

१. प्रत्यक्ष चित्रण-विधि (Direct Delineation)
२. अप्रत्यक्ष चित्रण-विधि (Indirect Delineation)

प्रत्यक्ष चित्रण-विधि के अनुसार चरित्र की विशेषताएँ पाठक के समक्ष स्वयं लेखक द्वारा व्यक्त की जाती हैं। उपन्यासकार चरित्र के बाह्याभ्यन्तर दोनों रूपों का प्रकाशन स्वयं करता चलता है। पाठक को अपनी अभिव्यक्ति का अवसर कम देता है। इस अवस्था में लेखक चरित्र और पाठक का मध्यस्थ होता है। वह 'चरित्र' को स्वयं पहले भली प्रकार समझता है, फिर पाठक को समझाने का प्रयत्न करता है। पाठक को इस चित्रण-विधि में विशेष मानसिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रत्यक्ष चित्रण कई विधियों द्वारा किया जाता है। उन्हें हम संक्षेप रूप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

---

1. There should be personal equation of the audience. The novelist must of course be influenced by the nature of the audience, he is writing for. —C. Hamilton.

(क) प्रकाशन-विधि (By Exposition)
(ख) वर्णनात्मक-विधि(By Description)
(ग) मनोविश्लेषण-विधि (By Psychological Analysis)
(घ) अन्य पात्रों के मुख से (By Report from other Characters).

प्रकाशन-विधि : प्रकाशन-विधि के अनुसार उपन्यासकार प्रारम्भ से ही वास्तविकता को खोलकर सामने स्पष्ट कर देता है। नायक का एक खाका हमारे मस्तिष्क के सामने खिंच जाता है। उपन्यास का सूत्रपात ऐसी घटना से होता है जो सारी कथा की केन्द्र-बिन्दु होती है। लेखक चरित्रों के चित्रण में स्पष्टता का सर्वत्र उपयोग करता है। कोई बात दुराव से नहीं कहता। जो उसके मस्तिष्क में होता है, वही पाठक के प्रत्यक्ष होता है। गोल्डस्मिथ का 'विकार ऑफ़ दि वेकफ़ील्ड' इस विधि का उत्तम उदाहरण है। प्रसाद जी की 'तितली' भी इसी कोटि में परिगण्य है।

वर्णनात्मक-विधि : वर्णनात्मक-विधि में लेखक उतना स्पष्ट नहीं हो पाता जितना प्रकाशन-विधि में। यहाँ कलाकार चरित्र का 'वर्णन' करता है। इसमें अवांतर और स्थूल बातें भी आ जाती हैं। धीरे-धीरे एक-एक अंग का वर्णन करते हुए वह आगे बढ़ता है। वह पात्र की एक विशेषता लेता है और उसे तब तक नहीं छोड़ता जब तक वह चरित्र को सम्यक् व्यक्त न कर ले।

मनोविश्लेषण-विधि : इस विधि में उपर्युक्त दोनों शैलियों का मिश्रण होता है। क्योंकि इस विधि का उपयोग प्रधानतया मस्तिष्क के कार्य-कलापों को अंकित करने के लिए होता है। इसका आलम्बन विशेषकर मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क के भावों और विचारों का संघर्ष होता है। इस विधि का उपयोग पाश्चात्य और पौर्वात्य देशों में पर्याप्त रूप में हो रहा है।

अन्य पात्रों के भाव से : पात्रों की सूचनाओं, उनके व्यंग्य, हास्य द्वारा भी हमें सीधे-सीधे किसी एक पात्र के विषय में परिचय प्राप्त होता है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि दूसरों पर व्यंग्य और हास्य करते हुए पात्र, अपने भी हृदय और मस्तिष्क का परिचय दे डालते हैं। एक व्यक्ति के बोलने से दो-दो या अनेक पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण : चरित्र-चित्रण की इस विधि में उपन्यासकार अपनी वाणी पर नियंत्रण रखता है। वह अपने-आपको पाठक से छिपाकर रखता है। पात्र को ही पाठक के सम्मुख ले आता है जिसका वह चित्रण करना

चाहता है । पाठक स्वयं पात्र से उसका परिचय प्राप्त करता है । लेखक पाठक और पात्र के मध्य निश्चेष्ट रहता है । चरित्र-चित्रण की यह विधि अधिक दुरूह है । परन्तु यदि इसका सफल प्रयोग किया जाए तो प्रत्यक्ष विधि की अपेक्षा यह अधिक कलात्मक होती है । इस विधि के मुख्य तीन प्रकार हैं :

(क) अभिभाषण द्वारा (By Speech)
(ख) क्रिया-कलाप द्वारा (By Action)
(ग) पात्रों पर प्रभाव द्वारा (By effects on characters)

अभिभाषण : संभाषण द्वारा पात्र तो अपने चरित्र पर प्रकाश डालता ही है जिसे पाठक को अपनी बुद्धि से समझना पड़ता है, साथ ही साथ वह कभी-कभी अपने चरित्र के विषय में स्वयं अपना विचार प्रकट कर जाता है । इस प्रकार संभाषण द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से वह अपना चरित्र-चित्रण स्वयं करता है।

क्रिया-कलाप : अपने कार्यों को करता हुआ पात्र, पाठकों के मन पर एक प्रभाव छोड़ता जाता है । पाठक उसके कर्मों में उसके चरित्र का अध्ययन करते हैं । जो पाप करेगा, वह दुष्कर्मी है, दुश्चरित्र है; जो पुण्य करेगा, दया-दाक्षिण्य से ओत-प्रोत होगा, वह सच्चरित्र और गुणवान् कहलायेगा । क्रिया-व्यापार ही चरित्र की वास्तविक कसौटी है, केवल रूप और वाणी नहीं ।

पात्रों पर प्रभाव द्वारा : अन्य पात्रों पर जो प्रभाव नायक अथवा अन्य पात्र डालते हैं उसके द्वारा भी उसका चरित्र आँका जाता है । हैमिल्टन के मत से यह चित्रण-विधि अत्यन्त सूक्ष्म है ।[1] यदि जन-समुदाय के मतानुसार व्यक्ति गुणवान् प्रसिद्ध है तो कितना भी निर्गुण क्यों न हो, पूज्य होता है । परन्तु गुणवान् होते हुए भी उसे गुणी होने की यदि मान्यता नहीं मिलती, तो वह निर्गुण ही है ।

चरित्र के प्रकार

चरित्र-चित्रण के विभिन्न प्रकार से अतिरिक्त उपन्यास में 'चरित्र' या पात्र के कई भेद होते हैं । वे निम्नांकित हैं :

१. व्यक्ति-प्रधान चरित्र (Individual character)
२. वर्ग-प्रधान चरित्र (Typical character)

---

1. Perhaps the most delicate means of indirect delineation is to suggest the personality of one character by exhibiting his effect upon certain other people in the story.

३. स्थिर चरित्र (Static character)
४. प्रगतिशील चरित्र (Kinetic character)

व्यक्ति-प्रधान चरित्र : यद्यपि मनुष्यों में स्थूल गुण-दोषों की समानता होती है पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि किसी न किसी गुण-दोष में मनुष्य एक-दूसरे से भिन्न हैं। यदि किसी में दया की अधिकता है तो दूसरे में क्रोध की। यदि कोई रागी है, तो दूसरा विरागी। कोई योगी है, तो कोई भोगी। इस प्रकार कुछ गुण या दोषों की अतिशयता के कारण मनुष्य दूसरे से अलग अपना एक व्यक्तित्व रखता है। यही अन्तर उपन्यास में व्यक्ति-प्रधान चरित्र की सृष्टि करता है। यही कारण है कि उपन्यास में प्रायः कई कथाएँ चलती हैं, और उनमें चरित्रों में 'समानता' तथा 'विरोध' प्रदर्शित करके कथानक को आगे बढ़ाया जाता है। व्यक्ति-प्रधान चरित्र एक व्यक्ति की विशेषताओं का प्रकाशन करता है।

वर्ग-प्रधान चरित्र : यह चरित्र किसी एक विशिष्ट वर्ग या समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। पात्र जैसा आचरण करता है, उस वर्ग के सभी लोग ठीक उसी प्रकार का आचरण करते हैं। मजदूरों के वर्ग, मिल-मालिकों के वर्ग, जमींदारों के वर्ग, किसानों के वर्ग इत्यादि का प्रतिनिधित्व प्रायः उपन्यासों में एक ही पात्र करता है। उसमें उस वर्ग के समस्त गुण-दोष विद्यमान रहते हैं। वह अपने वर्ग की आवाज़ उठाता है। परन्तु प्रत्येक महान चरित्र में इन (व्यक्ति और वर्ग) दोनों प्रकार के चरित्रों का अद्भुत मिश्रण होता है। "वर्गयुक्त होने के कारण वह सत्य होता है, व्यक्तित्व युक्त होने के कारण विश्वसनीय।"[1]

स्थिर चरित्र : उपन्यास में कभी-कभी ऐसे चरित्र भी आते हैं, जिनमें आद्यन्त कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता, यदि प्रारम्भ में अच्छे हैं तो अन्त में भी साधु ही रहेंगे। इसी तरह, असाधु लोग असाधु ही रह जाते हैं, साधुत्व की ओर प्रवृत्त नहीं होते। जीवन में उत्थान-पतन उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालते। चाहे कितनी विपत्ति में झकझोरे जाएँ, पर वे अपना मार्ग नहीं बदल सकते। सुख चाहे उन्हें कितना ही यशस्वी बना दे, पर अपने गुणों को स्थिर बनाए रखते हैं, कभी वासना की बू से प्रभावित नहीं होने देते।

1. Every great character of fiction, must exhibit, therefore, an intimate combination of the typical and individual traits. It is through being typical that the character is true; it is through being individual that the character is convincing.

प्रगतिशील चरित्र : प्रगतिशील चरित्रों में निरन्तर आरोह-अवरोह होता रहता है। उनके जीवन में आज सम्पत्ति है तो कल विपत्ति। उनके चरित्र या तो असाधु से साधु की ओर प्रवृत्त होते हैं अथवा साधु से असाधु की ओर। कभी-कभी साधु-असाधु में उतार-चढ़ाव होता रहता है। ऐसे चरित्र को प्रगतिशील चरित्र कहेंगे। कुछ लोग इसे विकासशील चरित्र भी कहते हैं। प्रगतिशील चरित्र का यह अर्थ नहीं कि वह सदा उन्नति करता चले। प्रगति का अर्थ है कि उसमें 'गति' हो, चाहे उत्थान की ओर चाहे पतन की ओर।

कथोपकथन

पात्रों के परस्पर वार्तालाप को कथोपकथन कहते हैं। कथोपकथन का सीधा सम्बन्ध तो पात्र के चरित्र से ही परिलक्षित होता है परन्तु वही कथावस्तु का विकास भी करता है। अतः कथोपकथन का सम्बन्ध कथावस्तु और पात्र दोनों से होता है। वार्तालाप में चयन-संयम बहुत वांछनीय है। जो वार्तालाप कथानक को अग्रसर नहीं करता या चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता, वह चाहे कितना ही सजीव हो, उपयुक्त नहीं हो सकता।

कथोपकथन में औचित्य का पूर्ण विचार होना चाहिए। जैसा पात्र हो, वैसी बातचीत होनी चाहिए। परिस्थिति और पात्र के बौद्धिक विकास का ध्यान रखना आवश्यक है। यह बात उदाहरण से अधिक स्पष्ट होगी। प्रेमचन्द जी के पात्रों में कथोपकथन पात्र की इयत्ता के अनुकूल हैं। उनके पुलिस पात्रों की उर्दू भी हिन्दी का ही स्वरूप है। कुछ स्थानों पर दुरूहता अवश्य आ गई है। इसकी ठीक उलटी प्रसाद जी की भाषा है। उनकी भाषा हमेशा एकरस रहती है। 'कंकाल' के सभी पात्र संस्कृत-गर्भित भाषा बोलते हैं। वह इन पात्रों की भाषा नहीं वरन् प्रसाद जी की भाषा है।

अनुकूलता केवल भाषा की ही वांछनीय नहीं, वरन् कथोपकथन का विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना चाहिए। कभी-कभी अपने विचारों को पिरोने में तल्लीन कलाकार विशेष ज्ञान-प्रदर्शन का मोह रोक नहीं पाता। फिर उसके प्रदर्शन के लिए भी अनुकूल पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए। पात्रानुकूलता, स्वाभाविकता, सजीवता और संक्षेप आदि गुण स्पृहणीय हैं।

वातावरण

वातावरण उन समस्त परिस्थितियों का संकुल नाम है जिनसे पात्रों को संघर्ष करना पड़ता है और कथानक का विकास होता है। उपन्यास को वास्त-

विकता का मान देने की कसौटियों में वातावरण मुख्य उपकरण है। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश और काल की जंजीर में जकड़े रहते हैं। देश और काल की वास्तविक पृष्ठभूमि के बिना पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता। घटनाक्रम को समझने में भी उलझन होती है। आजकल, जब कि वस्तुवाद का बोलबाला है, देश और काल का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है।

देश और काल के उभय पक्षों में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। बम्बई जैसे फैशनेबुल शहर का वर्णन हम बम्बई देखे बिना सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो इसकी महिमा और बढ़ जाती है। देश-काल का वर्णन विशेषरूप से आवश्यक होता है। प्राचीन काल के सम्यक् चित्रण के लिए इतिहास और पुरातत्व की महती अपेक्षा है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास, इन्हीं आधारों पर निर्मित हैं। उदाहरण के लिए उनका 'गढ़कुण्डार' बुन्देलखण्ड का देश-कालपरक चित्रण होने के कारण पठनीय है। कुछ स्थल वीर रस का संचार कराते हैं, तो कुछ स्थल भयानक घटनाओं की वास्तविकता के लिए वांछनीय होते हैं। स्टीवेन्सन अंग्रेजी भाषा का सुप्रसिद्ध लेखक है। उसने कहा है, "कुछ अन्धकारमय उपवन हत्या का आवाहन करते प्रतीत होते हैं, कुछ पुराने मकान मृतप्रेतों के अस्तित्व की माँग करते हैं और कुछ भयंकर समुद्र के किनारे जहाजों को टकराने के लिए बनाए गये हैं।"

जो वस्तु जहाँ के लिए समीचीन नहीं, उसका वहाँ दिखाना तथा जो प्रथा किसी काल-विशेष में प्रचलित न थी, उसका उस काल में चित्रित करना भारतीय समीक्षाशास्त्र में देश-विरुद्ध दोष और काल-विरुद्ध दोष करार दिया गया है। सर्दी के दिनों में लू का चलना, तथा शिमले में लू से मर जाना दोनों क्रमात् काल-दोष या देश-दोष हैं।

देश-काल का चित्रण सदा कथानक की ठीक अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयोज्य होना चाहिए। उसमें अतिशयता नहीं आनी चाहिए। ऐसा न हो कि वह स्वयं साधन का स्थान छोड़कर साध्य बन जाए।

देश-काल वातावरण का बाह्य स्वरूप है। वातावरण आन्तरिक भी हो सकता है। आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है, वैसा तो कार्य करता ही है परन्तु उसके भाव, भावना और विचार भी उसकी अनुकूलता और प्रतिकूलता में सहायक होते हैं। अमुक पात्र की अमुक समय पर मानसिक स्थिति कैसी है, उसका भी विचार कलाकार को अवश्य रखना चाहिए। वास्तव में, प्रकृति और

पात्रों की मानसिक स्थिति के सामञ्जस्य का पाठक पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। कृति में कलात्मकता आती है। यह सामञ्जस्य दो प्रकार से दिखाया जाता है। (१) प्रकृति को पात्र के अनुकूल दिखाकर (२) प्रतिकूल दिखाकर। उदाहरणार्थ (क) चन्द्रकला के साथ उस रमणी की ज्योत्स्ना निखरती जा रही थी। (ख) इधर सूर्य का उदय हो रहा था, उधर उसकी जीवन-प्रभा विलीन हो रही थी।

उद्देश्य

जब हम कुछ बोलते हैं, बातचीत करते हैं, भाषण देते हैं, लिखते हैं, तो उसका एक स्पष्ट अर्थ होता है; स्पष्ट उद्देश्य होता है। उसी प्रकार उपन्यास लिखने का भी एक निश्चित उद्देश्य लेखक के समक्ष रहता है। उसी के अनुसार वह भावों व विचारों को मोड़ देता अग्रसर करता है। आजकल के कितने उपन्यासों में स्पष्ट रूप से मार्क्सवाद और साम्यवाद का प्रचार-उद्देश्य ही अभिप्रेत है।

लेखक अपने विचारों को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। जीवन को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखते हुए वह उसकी व्याख्या करता है। उपन्यास में विचार बिखरे हुए रहते हैं। परस्पर विरोधी विचारों का संघर्ष होते हुए भी उनमें एक अन्विति रहती है। अन्त में वही विचार विजयी होता है, जो कलाकार का मन्तव्य होता है।

चरित्र-चित्रण की भाँति उद्देश्य-निरूपण के भी दो प्रकार हो सकते हैं। (१) विश्लेषणात्मक—जिसमें लेखक सीधे ही, अपने दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या स्वयं करता चला जाता है। (२) परोक्ष—जिसमें वह झाँकी मात्र उपस्थित करते हुए चलता है। कुछ विचार तो वह (क) पात्रों द्वारा व्यक्त कर देता है और (ख) शेष को जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के प्रस्थापन में तथा कथा के परिणाम में व्यंजित करता है।

विचार की पृष्ठभूमि का महत्व व्यापक हो गया है। उसके आधार पर आज के उदीयमान उपन्यासकार किसी नीति का उद्घाटन न कर विचारों का विश्लेषण मात्र करते हैं, क्योंकि आज का पाठक स्थायी विचार चाहता है। अतः कलाकार को उनके प्रकाशन में बड़े कौशल से कार्य करना पड़ता है। विचार उपन्यासकार की कसौटी बन गया है। लेकिन जब वह कथाकार का पद त्यागकर उपदेशक का पद ग्रहण कर लेता है, तो आलोच्य बन जाता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में यही आक्षेप किया है कि "वे उपन्यासकार से उपदेशक बन जाते हैं।" अतः विचारों के विश्लेषण को ऐसा

महत्व न दिया जाए कि वह शुद्ध दार्शनिक बन जाए। विचार और भाव का संतुलित एवं मर्यादित समन्वय कला और साहित्य की आवश्यकता है। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के विचार इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। "जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों से जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है उधर दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई पड़ते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।" इस कथन में अन्तिम वाक्य 'विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे' ध्यान देने योग्य है। इसमें 'विचारशीलता' और 'सहृदयता' दोनों का सम्बन्ध है। यही उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह दोनों को मिलाता चले; हृदय और मस्तिष्क को जोड़ता चले।

भाव और रस

हमारा साहित्य रस को प्रधानता देता है, पाश्चात्य साहित्य उद्देश्य और विचार को; परन्तु रस और भाव को निरा स्वीकार करने से विचार का सर्वथा परित्याग नहीं होता। विचारों के मूल में भाव स्थित होते हैं। भाव अधिक दृढ़ होकर भावना का स्वरूप ग्रहण करते हैं, भावना परिपुष्ट होकर विचार का। अतः, भाव, भावना और विचार में केवल डिग्री का अन्तर रहता है, फार्म का नहीं। इसलिए रसोत्पत्ति भाव और विचार दोनों ही अवस्थाओं में सुलभ है।

शैली

कला में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसके स्वरूप, आकृति तथा वेश-भूषा का। यह आवश्यक नहीं कि सुन्दर आकृति के साथ सद्गुण का संयोग और समावेश हो ही। फिर भी प्रभावोत्पादक मूल्यों और गुणों के अंकन में ये वैसे ही सहायक होते हैं, जिस प्रकार दूध को शुद्ध बनाए रखने के लिए स्वच्छ और उज्ज्वल पात्रों की अपेक्षा रहती है। चित्त में रसानुभूति के लिए कथा की मौलिकता और रोचकता जितनी सहायक होती है, उतना ही कथन या वर्णन का प्रकार भी। पद-पद पर प्रसन्नता की पुट रखते जाना, जिज्ञासा को जगाते रहना, शैली की प्रक्रिया है। कथावस्तु के अन्य गुण—संगठन, क्रम, संगति आदि—शैली के आन्तरिक पक्ष से सम्बद्ध हैं। तथ्य तो यह है कि उपन्यास में विचारों की अपेक्षा मनोरंजन की वस्तु अधिक होती है। इसके द्वारा समाज की परिस्थितियों को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाता है। उपन्यास अन्य काव्यांगों की अपेक्षा अधिक मात्रा में 'जन-साहित्य' है। अतः प्रसाद गुण को कायम रखना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रसाद गुण के साथ-साथ माधुर्य और ओज को भी उपयुक्त स्थान देना चाहिए। एक ही गुण की प्रधानता से उपन्यास की रोचकता कम हो जाती है।

चलती, विशेषकर मुहावरेदार व सुबोध और सरल भाषा वांछनीय है। क्योंकि उपन्यास अल्पशिक्षित से लेकर सुशिक्षित तक सभी मनोनिवेशपूर्वक पढ़ते हैं।

अलंकारों के उपयोग की बहुत आवश्यकता नहीं होती। फिर भी यदा-कदा उनका प्रयोग चमत्कारिक होता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि विरोधाभास के द्वारा व्यंग्य को अधिक मार्मिक, सूक्ष्म और प्रभविष्णु बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त गुण काव्य-परिवार के समष्टिगत गुण हैं, लेकिन कौतूहल इसकी अपनी सम्पत्ति है। कल्पना को सत्य में परिवर्तन करना उपन्यास की मुख्य कला है। उपन्यास की शैलियाँ उतनी ही हैं जितने लेखक, क्योंकि सूक्ष्म रूप में देखने से किसी लेखक की शैली दूसरे से नहीं मिलती। फिर भी व्यवहार में दो प्रधान शैलियाँ हैं : (१) प्रेमचन्द जी की प्रसादयुक्त चलती भाषा की शैली, (२) प्रसाद जी की संस्कृतनिष्ठ भाषा की परिपाटी।

उपन्यास में विस्तार का क्षेत्र अधिक होता है। अतः व्यास शैली के लिए अधिक गुंजाइश है। फिर भी विस्तार, मर्यादा, और नियंत्रण वांछनीय है।

दसवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यास का वर्गीकरण और मूल्यांकन

वास्तविक जीवन का कल्पना-जन्य विवेचन होने के नाते, उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक बन गया है। जीवन की नाना समस्याएँ देश, काल और परिस्थिति के अनुसार मनुष्य को परेशान किए रहती हैं। विविध उलझनों में वह भटकता फिरता है। और फिर कल्पना का तो कोई ओर-छोर ही नहीं; जहाँ सूर्य भी नहीं पहुँच सकता, कल्पना झट दौड़ जाती है और अण्ड, पिण्ड-ब्रह्मांड का कोई कोना अछूता नहीं रहने देती। जब दोनों ही—'जीवन' और 'कल्पना' उपन्यास को जन्म देते हैं, तो इसका क्षेत्र विशाल क्यों न हो ? इसी को देखकर तो साँ-बो (Sainte-Beuve) को १८६२ ई० में ही स्वीकार करना पड़ा था कि उपन्यास का क्षेत्र इतना व्यापक और महान हो गया है कि इसका स्वरूप सभी विषयों को अंगीकार कर लेता है (There is such a great vast scope of it that its form lends itself to every thing.)। अतः उपन्यास के नाना भेद और प्रकार हो गए हैं। यदि यह कहा जाए कि जितने लेखक हैं, उतने ही प्रकार के उपन्यास हैं तो अधिक अत्युक्ति न होगी। फिर भी उनको विशेष वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। सामान्य दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास-साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) बहिर्मुखी उपन्यास, (२) अंतर्मुखी उपन्यास, (३) समन्वित उपन्यास। आगे इन तीन विशेष वर्गों के भेद-प्रभेद हो जाते हैं। बहिर्मुखी उपन्यास की श्रेणी में वे समग्र उपन्यास समाहित हैं, जो मानव-जीवन के बाह्य अंग का अध्ययन करते हैं। उसे बाहर-बाहर से ही देखने का प्रयास करते हैं। अंतर्मुखी उपन्यास मनुष्य के अंतर्जगत् का निरीक्षण करते हैं, उसकी प्रवृत्तियों, गूढ़ भावनाओं, गुत्थियों, कुंठाओं, दुर्बलताओं पर प्रकाश डालते हैं। समन्वित उपन्यास उपर्युक्त दोनों प्रकारों का अद्भुत मिश्रण है। बाह्य जगत् और अंतर्जगत् का द्वन्द्व तथा उनमें सामञ्जस्य का चित्रण इसका लक्ष्य है। बहिर्मुखी उपन्यास के तीन प्रभेद प्राप्त हैं :

१. नीति-प्रधान उपन्यास

२. घटना-प्रधान उपन्यास

३. इतिहास-प्रधान उपन्यास

इसी प्रकार अंतर्मुखी उपन्यास के दो उपभेद हैं :

१. मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यास

२. सिद्धान्त-प्रधान उपन्यास

तीसरे वर्ग समन्वित उपन्यास के अंतर्गत भी दो भेद हैं :

१. चरित्र-प्रधान उपन्यास

२. समस्या-प्रधान उपन्यास

यह वर्गीकरण उपन्यास की प्रवृत्ति और उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम, दोनों को ध्यान में रखकर किया गया है।

बहिर्मुखी उपन्यास

नीति-प्रधान उपन्यास : हिन्दी उपन्यास का इतिहास 'नीति-प्रधान' उपन्यासों से प्रारम्भ होता है। इसके अन्तर्गत श्रीनिवासदास जी का 'परीक्षा-गुरु' नामक उपन्यास विशेष रूप से प्रख्यात हुआ है। "इसे हम हिन्दी का पहला उपन्यास कह सकते हैं। 'परीक्षा-गुरु' में एक सेठ के लड़के के बिगड़ने और अपने मित्र की सहायता से सुधरने के कथानक के सहारे व्यावहारिक उपदेश दिया गया है।" इसमें बीच-बीच में नीति-सम्बन्धी उदाहरण प्रचुर मात्रा में आए हैं। इसमें संस्कृत की नीति-कथाओं की शैली अपनाई गई है। इसमें 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस कोटि के अन्तर्गत पं० बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' और राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू' भी उल्लेखनीय हैं।

घटना-प्रधान : बहिर्मुखी उपन्यास का दूसरा भेद 'घटना-प्रधान' उपन्यासों का है। हिन्दी के प्रारंभिक काल में लोक-रुचि कौतूहल और तिलस्म की ओर अधिक दिखाई पड़ती है। उपन्यास के लेखन और अध्ययन का एकमात्र उद्देश्य था—कौतूहल की तृप्ति और अपना मनोरंजन। "इस प्रवृत्ति के लिए बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। ऐसी घटनाएँ उपस्थित कर देना, जिनमें मन अपने आप रम जाए—क्या हुआ, इसके आगे क्या हुआ की प्यास बढ़ती जाए—इनको अभीष्ट था। ये घटनाएं जादू के प्रभाव से आविर्भूत सी लगती हैं। इनमें तिलस्म और अय्यारी का प्राधान्य है।"

घटना-प्रधान उपन्यास का दूसरा रूप 'जासूसी उपन्यास' के रूप में आता है। तिलस्मी उपन्यास तथा घटना-प्रधान उपन्यास में अन्तर इतना ही है कि "तिलस्मी उपन्यासों में घटना का क्रम आगे की ओर बढ़ता है", और जासूसी उपन्यासों में पीछे की ओर हटता है। जासूसी उपन्यासों में गोपालराम गहमरी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। जासूसी उपन्यास बड़े ही मनोरंजक होते हैं। हिन्दी साहित्य में उनकी संख्या बहुत अधिक है।

इतिहास-प्रधान : बहिर्मुखी हिन्दी उपन्यास के विकास में तृतीय उत्थान ऐतिहासिक उपन्यास से होता है। पं० किशोरीलाल गोस्वामी इनके अग्रदूत हैं। उन्होंने अपनी पूर्वज परम्परा से कौतूहल वृत्ति को तो उधार लिया ही, उसमें उन्होंने साथ-साथ सामाजिकता और वास्तविकता भी लाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने उपन्यास के ऐतिहासिक होने पर बल दिया। इस ऐतिहासिकता में प्रेम और विलास का मिश्रण करके इन्होंने वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। यहाँ से उपन्यास में कल्पना-तत्व का अंश कम और सत्य का अंश क्रमशः अधिक होने लगता है।

यह ऐतिहासिक उपन्यास अपनी पूर्णावस्था में वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में पहुँचता है। उन्होंने अपने 'गढ़कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' आदि रचनाओं में ऐतिहासिक सामग्री उपस्थित की है, पर रोमांस के साथ। उन्होंने बचपन से ही अपनी आँखों से बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक भग्नावशेषों को देखा और उन्हींके ही चिंतन में वे लीन होते रहे। अपनी नयी उद्भावनाओं के साथ उन खंडहरों का मेल करते हुए वे नये ढंग से इतिहास और साहित्य का समन्वय करते हैं।

"इनके उपन्यासों में ऐतिहासिकता के साथ-साथ स्थानीय गौरव, स्थानीय रंगत और प्रकृति-चित्रण की विशेषता है। इनके पात्र परिस्थिति के अनुकूल स्वाभाविक गति से चलते हैं। उनकी विशेष व्याख्या देने की जरूरत नहीं पड़ती। अंग्रेजी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार सर वाल्टर स्कॉट की भाँति हिन्दी में वर्मा जी अकेले ही उपन्यासकार हैं, जिनमें लोकवार्ता को पूरा-पूरा स्थान मिला है। 'गढ़कुण्डार' का वातावरण भी ऐतिहासिक है और पात्र भी।

"गढ़कुण्डार में हमको बुन्देलखण्ड की वीर-गाथा काल की-सी मानापमान तथा वीरदर्प से प्रेरित पारस्परिक मार-काट की प्रवृत्ति मिलती है। बुन्देले ऊँचे थे, खंगारे उनसे नीचे। इस ऊँच-नीच के भाव ने दोनों में संघर्ष की सृष्टि की।

दोनों का विनाश हुआ। खंगारे की बढ़ती हुई शक्ति चकनाचूर हो गई। ऐतिहासिकता के दृष्टिकोण से वर्मा जी की 'झाँसी की रानी' नवीनता के साथ-साथ उनकी सुन्दरतम रचना है। उसमें सन् १८५७ ई० की घटनाओं एवं उनके कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। रोमांस यत्र-तत्र आया है परन्तु गौण बनकर, दबे-दबे, भीगे-भीगे।"

हिन्दी में बँगला से जो उपन्यास अनूदित हुए, उनसे भी ऐतिहासिक उपन्यास को सम्बल मिला। बंगला के उपन्यासकारों में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रख्यात हैं। उनके उपन्यासों की चारों ओर बड़ी घूम और हलचल रही। वे रग-रग में नवीन रक्त और भावनाएँ भरने वाले सिद्ध हुए। 'बन्दे मातरम्' नामक राष्ट्रीय गीत बंकिम बाबू के 'आनन्द-मठ' से ही प्रकाश में आया है। इन उपन्यासों ने राष्ट्रीय संगठन में बड़ा योग दिया।

यह तो बहिर्मुखी उपन्यास और उसके प्रभेदों की चर्चा रही। ऐतिहासिक उपन्यासों के पश्चात् उपन्यास-साहित्य करवट लेता है। अब कुतूहल धीरे-धीरे समाज के बाह्य और स्थूल अंगों से हटकर मनुष्य के आभ्यन्तर संसार की ओर उन्मुख होता है। यह उपन्यास की वयःसंधि की अवस्था है। इसमें उपन्यास साथ ही साथ समाजपरक और व्यक्तिपरक दोनों है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों को समझने का मौलिक प्रयत्न है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के चरित्र को चित्रित करने का प्रयास है।

इस चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से उपन्यास लिखने की दृष्टि से मुंशी प्रेमचन्द जी ने उपन्यास-साहित्य में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। इनके उपन्यास सामाजिक हैं परन्तु फिर भी मनुष्य की सहज वृत्तियों के परिचायक भी। 'सेवा-सदन', 'निर्मला', 'गबन' आदि उपन्यास सामाजिक रंगमंच की आधारशिला पर रचे गए हैं। परन्तु उनमें नायक तथा अन्य पात्रों की बारीकियों को उभार लाने का नया प्रयत्न है। उन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों को बहुत निकट से परखने की कोशिश की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा कि स्त्रियों में आभूषण के प्रति कितनी ममता और कितना आकर्षण होता है। इसको उन्होंने गबन में भलीभाँति चित्रित किया है।

नर-नारी दोनों स्वाभाविक रूप से सौन्दर्य-प्रेमी होते हैं। यौवनावस्था दोनों को प्रिय लगती है। परिणय इसी अवस्था की आवश्यकता है। पुरुष-स्त्री दोनों परिणय-सम्बन्ध में यौवन और सौंदर्य चाहते हैं। यह सहज प्रवृत्ति है; यदि इसके विपरीत कार्य किया जाए, तो उन्हें क्षोभ और कष्ट होता है। वे अपने जीवन

को भार समझने लग जाते हैं। जैसे 'निर्मला' में वृद्ध विवाह की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण है। प्रेमचन्द जी के ये उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास कहे जा सकते हैं। उनकी अपनी मान्यता थी कि मैं उपन्यास को मनुष्य के चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ और उसमें उसका चित्रण करता हूँ। अतः उनके उपर्युक्त तथा कुछ अन्य उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास की कोटि में आते हैं।

समस्या-प्रधान : प्रेमचन्द जी के प्रायः सभी उपन्यास विविध समस्याओं को हमारे सामने लाते हैं। उनके काल में राजनीतिक समस्याओं ने सम्पूर्ण देश का ध्यान आकृष्ट किया था। प्रेमचन्द जी ने इन समस्याओं को अपनाया और अपने ढंग से उन पर चिन्तन किया। 'रंगभूमि' में एक विस्तृत राजनैतिक चित्रपट पर समस्याओं के आन्दोलन का चित्रण है। अन्य उपन्यासों में शोषित वर्ग और दलित जनता की समस्याएँ दिखाई गई हैं।

प्रेमचन्द जी न तो सामाजिक अत्याचार सहन कर सकते थे और न ही राजनैतिक। उन्होंने जमींदार और कृषक की समस्या, उच्चकुल और निम्नवर्ग की समस्या को भी यथास्थान दिया है। उस काल की सबसे विषम समस्या हिन्दू-मुस्लिम एकता थी, इसको भी उन्होंने अपनाया है। उन्होंने गांधीवादी नीति का प्रतिनिधित्व उपन्यासों के माध्यम से ठीक उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार गुप्त-बन्धुओं ने काव्य के। अतः प्रेमचन्द जी के उपन्यास कुछ चरित्र-प्रधान हैं, कुछ समस्या-प्रधान। कहीं-कहीं पर उन्होंने दोनों का मेल भी कर दिया है। 'गबन' में उन्होंने प्रसंगवश पुलिस के हथकंडों का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। उस समय पुलिस का अत्याचार जनता पर असह्य हो उठा था। विदेशी सरकार की नौकरपरस्ती में हिन्दुस्तानी सिपाही हिन्दुस्तानियों से अत्यन्त बर्बरतापूर्ण व्यवहार करते थे। इसका सामना करना था, इसलिए इसको प्रेमचन्द जी ने गबन में दिखलाया है।

कौशिक जी के उपन्यास भी इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि कौशिक जी का क्षेत्र व्यापक था, फिर भी उनके आदर्श मुंशी जी के समान थे। उनके उपन्यास में भी निम्नवर्ग के लोगों (भिखारियों) से मानवतापूर्ण व्यवहार और सहानुभूति की माँग है। इनके दो प्रधान उपन्यास हैं 'माँ' और 'भिखारिणी'। माँ में दो माताओं के चरित्र का चित्रण है—सुलोचना एवं सावित्री का। सुलोचना का प्रभाव सच्चरित्रता की ओर ले जाता है और सावित्री का प्रभाव दुराचार की ओर।

'प्रसाद' जी के 'तितली' नामक उपन्यास में ग्रामोत्थान की समस्या को

आधार बनाया गया है, और 'कंकाल' नामक उपन्यास में वर्तमान जीवन के खोखलेपन को। 'कंकाल' में इस समस्या का हल एशियाई संघ के रचनात्मक कार्य की रूपरेखा के स्वरूप में भी दिखा दिया गया है। यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि इन समस्याओं का हल 'प्रसाद' जी ने भारतीय आदर्शों में ही ढूँढ़ा है। उनके बिना भारतीय जीवन सुखमय नहीं हो सकता, ऐसा उनका विश्वास प्रतीत होता है।

इसी कोटि में उषादेवी मित्रा अपने आदर्श चरित्रों को समेटे हुए आती हैं। कजरी, पिया, सविता बड़ी सहनशील नायिकाएँ हैं। उनमें वासनाओं का उन्नयन देखने को मिलता है। उनकी नारियाँ (नारीपात्र) अपने चरित्र से कभी विचलित होती नहीं दिखाई देतीं। वे सदा भारतीय आदर्शों का पालन करती हैं, कभी उनसे च्युत नहीं होतीं। ऐसी नायिकाएँ अब आजकल के उपन्यासों में शायद ही सुलभ हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद जी तक आते-आते उपन्यास पूर्व परम्परा के समान समाज के बाह्य अंगों का चित्रण करते हुए मनुष्य के अंतर्जगत् की भी व्याख्या करना आरम्भ करता है। अंतर्जगत् की व्याख्या वर्तमान युग की अपनी निजी विशेषता है। अतः प्रेमचंद जी का युग इन दोनों—भूत-भविष्य—की विशेषताओं का संधिकाल है। इसी से इनके तथा इस प्रकार के अन्य उपन्यासों को समन्वित उपन्यास की कोटि में रखा गया है। यह कोटि बहुत ही व्यापक है। जीवन का सांगोपांग चित्रण इस समन्वित वर्ग द्वारा ही संभव है। इसीलिए प्रेमचंद जी को उपन्यास-सम्राट् कहा जाता है।

अन्तर्मुखी उपन्यास

मनोविश्लेषण-प्रधान : हिंदी उपन्यास पुनः अपना रुख बदलता है। प्रेमचंद जी के पश्चात् सामाजिक और राजनीतिक उपन्यासकारों की रचना-प्रवृत्ति मंद पड़ जाती है। उपन्यास की वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व मिलने लगता है। इसका आशय यह नहीं कि आधुनिक उपन्यासकारों ने समाज को भुला दिया। भुलाया नहीं बल्कि सामाजिक समस्याओं के सीधे चित्रण की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना से अधिक काम लिया। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी उपन्यास लिए जा सकते हैं। इनमें व्यक्ति के विश्लेषण के बहाने समाज का व्यंजक चित्र उपस्थित किया जाता है। प्रेमचंद जी के पात्रों में वर्ग का प्रतिनिधित्व अधिक रहता था। अतः उनमें समाज की प्रधानता झलकने लगती थी और साथ-साथ व्यक्ति की गौणता। बाबू गुलाबराय जी का कथन है कि "आधुनिक उपन्यासों में मनुष्य के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन

की कुंजी से उसके चारित्रिक रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है। व्यक्ति की दुर्बलताएँ सामाजिक और मानसिक कारणों के आलोक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गई हैं।"

इस 'नये वैयक्तिक अध्ययन के अग्रदूत' श्री जैनेन्द्र जी माने जाते हैं। जैनेन्द्र जी आधुनिक युग के प्रभावशाली लेखक और विचारक हैं। उनके प्रख्यात उपन्यास 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' हैं। इनमें चित्रित नारियाँ 'साधारण नैतिक मापदंड से बाहर की वस्तु बन गई हैं'। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनके व्यक्तित्व का ही सुगम बोध नहीं होता। अतः वे रहस्य मालूम पड़ती हैं। जैनेन्द्र जी का सम्बन्ध मानसिक उथल-पुथल से विशेष है। आन्तरिक जीवन पर प्रकाश-क्षेपण उनको अभीष्ट है। 'कल्याणी' के अन्तर्जगत् का पूर्ण प्रसार न होने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। 'त्यागपत्र' की मृणाल दयनीय है। उसमें अन्तस् की प्रेरणा अत्यन्त बलवती है, परन्तु सामाजिक विवशता के कारण उसका त्राण नहीं हो पाता। अतः परिणाम रूप में समाज की कठोरता पर गहरा व्यंग्य है।

वर्तमान युग ने श्रेय और प्रेय के अन्तर को मिटा दिया। आजकल के युग का आदर्श यह है कि "जो स्वाभाविक है, वही सत्य है, वही कर्त्तव्य है।" फ्रॉयड की मनोविश्लेषण-पद्धति ने इस प्रवृत्ति को बहुत उकसाया है। इसके प्रभाव से मनुष्य को व्यक्ति के चरित्र के मूलस्रोतों तक पहुँचने की दृष्टि मिली। कारण के प्रकट हो जाने पर मनुष्य की भूलों, उसके दोषों और पापों का भार कम हो जाता है। हमारे यहाँ महाप्रभु रत्नाम्बर ने भी इसी से मिलती-जुलती पाप-पुण्य की व्याख्या की है। "जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है, विवश है। वह कर्ता नहीं, केवल साधन है। तब पाप और पुण्य कैसा ?" फिर भी मनुष्य का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व तो रहता ही है।

इस मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यास के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी जी हैं। उनका विशेष क्षेत्र नारी के अन्तर्जगत् का विश्लेषण है। उन्होंने इस विश्लेषण के लिए नारी का प्रेम, उसकी वासना, वासना और कर्त्तव्य का संघर्ष इत्यादि का माध्यम अपनाया है। उनमें अधिकांश शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और उसके सौंदर्य-नियंत्रण की चर्चा है। इस प्रकार की सामग्री 'प्रेमपथ' और 'पिपासा' में प्राप्य है।

'दो बहिनें' नामक उपन्यास में उन्होंने नारी-जाति का चरित्र दिखाने का

प्रयत्न किया है। उसमें उन्होंने एक ही प्रेमी के साथ दो बहिन-प्रेमिकाओं को रखकर एक मनोविश्लेषणात्मक प्रश्न उपस्थित किया है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी इसमें काफ़ी क्षेत्र है। 'निमन्त्रण' में पूर्वीय और पाश्चात्य आदर्शों का द्वंद्व दिखलाया गया है।

फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार से आजकल के उपन्यासों में रूप-लालसा की वृद्धि हो गई है। यदि जीवन-क्रम में कहीं दोष आता है तो उसके विचार को अवचेतन मानस पर थोप दिया जाता है। उस अज्ञात अन्धकारमय कोने में पैठने की अथवा उस पर सर्चलाइट डालने की कोशिश की जाती है। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में व्यक्ति के बाहरी आडम्बर का पर्दाफास तो होता ही है, उसकी ऊपरी टीमटाम और विडम्बना भी चकनाचूर होती है, साथ-साथ उसके आंतरिक जगत् को नग्न रूप में देखा जाता है।

पं० इलाचन्द्र जोशी और श्री नरोत्तम नागर इस प्रवृत्ति के उपन्यासकारों में मुख्य हैं। 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास में जोशी जी ने मनोविज्ञान द्वारा विश्व की समस्याओं का समाधान ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। परन्तु वह समाधान किसी साधारण व्यक्ति के ज्ञान से अधिक महत्व का नहीं। जोशी जी के तीन उपन्यास 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'संन्यासी' में दो स्त्रियाँ शांति और जयन्ती क्रमशः नंदकिशोर की ईर्ष्या और अहंकार वृत्ति की शिकार बनती हैं। इस तरह यह उपन्यास ईर्ष्या-मनोभाव का चित्रण है। 'पर्दे की रानी' की नायिका निरञ्जना के चरित्र में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का पूरा उपयोग किया गया है। यह वेश्या-पुत्री अपने जन्मजात संस्कारों के कारण नैतिकता को विपरीत परिस्थितियों में भी सदा बचाती रही। नरोत्तम नागर जी के 'दिन के तारे' नामक उपन्यास में मनोविश्लेषण का अपना एक अलग क्षेत्र है। 'दिन के तारे' का नायक शशि है। शशि अपनी माता के प्रभाव में अधिक रहा है, अतः उसे बहुत ही मानता है, बहुत ही प्रेम करता है। यह देख उसकी पत्नी कुढ़ती और चिढ़ती है। यह प्रवृत्ति प्रायः अधिकांश घरों में देखने को मिल जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुखी उपन्यास का क्षेत्र उत्तरोत्तर प्रगति करता जा रहा है। मनोविश्लेषण-प्रधान कृतियों की संख्या अनुदिन बढ़ती जा रही है।

सिद्धान्त-प्रधान : अन्तर्मुखी उपन्यास का द्वितीय विभेद है 'सिद्धान्त-प्रधान उपन्यास'। इस कोटि के अन्तर्गत वे उपन्यास आते हैं जो किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से लिखे गए होते हैं। या तो वे समाजवाद की प्रतिष्ठा करते हैं या साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद की। इस कोटि के उपन्यासकारों

में श्री राहुल सांकृत्यायन और यशपाल जी हैं। यशपाल के प्रधान उपन्यास सिद्धान्तवादी हैं। 'दादा कामरेड,' 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' और 'दिव्या' नामक उपन्यासों की विशेषता यह है कि इनमें सिद्धान्तों के पालन के साथ-साथ पात्रों का रोमांस भी चलता है। उपन्यास का प्रेमतत्व तो आवश्यक अंग है ही (जैसा कि हमने समन्वित परिभाषा के आधार पर रिचार्ड बर्टन के लेख में देखा है।) अतः प्रेम का सन्निवेश तो वांछनीय है।

'दादा कामरेड' में सिद्धान्त और जीवन का समन्वय है। 'देशद्रोही' का नायक डॉक्टर खन्ना कम्यूनिष्ट है। इसमें पात्रों की बातचीत के माध्यम से साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। कांग्रेस के सिद्धान्तों का विरोध भी किया गया है। 'पार्टी कामरेड' में यशपाल द्वारा कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और उनके कार्यक्रमों पर व्यंग्य है। किन्तु वे (यशपाल) साम्यवादी दल की कार्यकर्तृ गीता का चरित्र आदर्शवादिता की सीमा तक ले जाते हैं। सेठ भाभरिया और नायिका दोनों अपने स्नेह का दल के अनुशासन के लिए बलिदान कर देते हैं। इससे पार्टी का अनुशासन दृढ़ और पुष्ट होता है। राहुल सांकृत्यायन की सैद्धान्तिक उपन्यास की प्रणाली यशपाल से भिन्न है। अपने 'सिंह सेनापति' नामक उपन्यास में राहुल ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

उपन्यास-साहित्य विकासशील साहित्य है। इसकी द्रुतगति से उन्नति हो रही है। वैज्ञानिक युग और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इसके भंडार को विस्तृत और महान् बनाते चले जा रहे हैं। पाश्चात्य देशों में उपन्यासों की कलाविधाओं (Techniques) के नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। आधुनिकतम प्रयोग एपिक नावेल (Epic novel) का है। उसका प्रयोग अभी हिन्दी में प्रारम्भ नहीं हुआ। जीवनी-उपन्यास का तो सूत्रपात श्री अज्ञेय द्वारा हो गया है। इस विषय में उनकी कृति 'शेखर : एक जीवनी' सराहनीय कृति है। इस प्रकार उपन्यास-साहित्य में नयी-नयी विधाओं को जन्म दिया जा रहा है। यह विकासशील साहित्य बनता जा रहा है। इसका क्षेत्र उत्तरोत्तर व्यापक हो रहा है।

ग्यारहवाँ अध्याय

हिंदी निबन्ध के तत्व और उसका वर्गीकरण

सामान्य परिचय

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के साथ-साथ मनुष्य की प्रवृत्ति रागात्मिकता की ओर से हटकर बौद्धिकता की ओर उन्मुख होने लगी। मनुष्य में वस्तुओं के स्वरूप को समझने और उसमें तारतम्य स्थापित करने की जिज्ञासा बढ़ी। बुद्धिवादी लेखक कल्पना-विकास से ही सन्तुष्ट न रहकर तार्किक सत्य की शोध में लग गया। उसकी इसी बौद्धिक (Rational) जिज्ञासा ने निबन्ध-साहित्य को जन्म दिया।

तर्क-बल से किसी विषय के समर्थन करने की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्यकारों में ग्यारहवीं शताब्दी में ही परिलक्षित होने लगी थी। इसी शताब्दी में भाष्य और टीकाओं की परम्परा चल पड़ी थी। यह परम्परा बुद्धिगत विषयों—सिद्धान्तों का प्रतिपादन, उनपर आक्षेप तथा उनका समाधान, तर्क द्वारा विषय के स्पष्टीकरण आदि पर अवलम्बित थी। टीका की इस परम्परा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "टीका परम्परा की इस नयी शाखा को हम निबन्ध-साहित्य कह सकते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद निबन्ध ग्रन्थों की परम्परा बढ़ती गई।"[1]

हिन्दी में निबन्ध-साहित्य का आविर्भाव धार्मिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप हुआ। निबन्ध ग्रंथों में लोक-जीवन से सम्बद्ध अनेक छोटी-मोटी बातों का विचार-विश्लेषण और व्यवस्थापन किया गया। पण्डितों द्वारा, धार्मिक व्यवस्था सुदृढ़ रखने के लिए नियमन और व्यवस्थापन का कार्य हुआ। निबन्ध ग्रंथ उसी के परिणाम हैं। इस परम्परा को लक्ष्य करके यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में निबन्ध किसी सुसम्बद्ध विचार-परम्परा का द्योतक है। इसमें विषय-प्रतिपादन की व्यवस्थित पद्धति का अनुसरण किया जाता है।

यद्यपि 'निबन्ध' अंग्रेजी 'एस्से' (Essay) के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है तथापि उनके मूल अर्थ में बहुत अन्तर है। अंग्रेजी में 'एस्से' (Essay) शब्द का प्रयोग

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १४-१५

सर्वप्रथम मॉन्टेन द्वारा 'प्रयत्न' के अर्थ में किया गया था। अपने हृदय के उद्गारों तथा मानवीय लोक-जीवन के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को उसने ज्यों का त्यों बिना किसी तारतम्य और शृंखला के शब्दों में व्यक्त किया था। मन के भावों की अभिव्यक्ति की यह पद्धति उसके समय में प्रचलित पद्धतियों से कुछ भिन्न थी, जिसे उसने 'एस्से' (Essay) के नाम से पुकारा। यद्यपि इसमें न भावों का विन्यास ही संयत था, न भाषा का लाघव ही परन्तु रचना-पद्धति की एक नयी दिशा की ओर सफल संकेत था। उसके तथाकथित एस्से (Essay) में कल्पना, अनुभूति और व्यक्तित्व का भी अनुपम समावेश था।

अंग्रेजी साहित्य में इस निबन्धकला का उत्तरोत्तर विकास होता गया और १८वीं शताब्दी में इसका बिखरा स्वरूप 'एडिसन' (Addison) के बिबन्धों में परिलक्षित होने लगता है। १८वीं शताब्दी से पूर्व अंग्रेजी एस्से (Essay) में सुसम्बद्धता और कलालाघव का अभाव ही रहा। बैकन (Becon) के सूत्रबद्ध एस्से (Essays) में भी कलालाघव की कुशलता न थी। एस्से के इस प्रचलित स्वरूप को देखकर ही डॉ० जानसन ने एस्से (Essay) की परिभाषा इस प्रकार की :

"एस्से (रचना-पद्धति) स्वच्छन्द मन की तरंग है, जिसमें तारतम्य और सुघटन न होकर विश्रृङ्खलता ही प्रधान रूप में विद्यमान रहती है।"[1] परन्तु क्रमशः एडिसन (Addison), चार्ल्स लैम्ब (Charles Lamb), मैकाले (Macaulay) और पेटर (Pater) के हाथों में निबन्धकला को वल मिला और असम्बद्धता की प्रारम्भिक त्रुटियों को दूर किया गया जो किसी प्रकार की भी कलाकृति के लिए दोष है। इन निबन्धकारों ने 'एस्से' का प्राचीन स्वरूप बदलकर एक नयी रूपरेखा प्रस्तुत की। एस्से का स्वरूप निर्धारित करते हुए हर्बर्ट रीड ने कहा कि "एस्से ३,५०० शब्दों से लेकर ५,००० तक होना चाहिए। ३,५०० शब्दों से कम में लिखा हुआ निबन्ध रेखाचित्र हो जाता है और ५,००० शब्दों से अधिक में लिखा हुआ निबन्ध एक लेख।"[2]

हर्बर्ट रीड 'एस्से' की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि "एस्से किसी का जीवन-वृत्त या आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं होता, न ही यह इतिहास

1. Essay is a loose sally of mind, an irregular indigested piece, not a regular and orderly performance."

2. The essay length is from 3,500 words to 5,000 words. Less than 3,500 becomes a sketch and more than 5,000 becomes a periodical.

होता है और न ही एक प्रबन्ध। इसमें किसी विषय का व्यक्तिगत विश्लेषण तो होता है परन्तु आत्मीयता के रूप में नहीं, यह विषयगत तो होता है परन्तु विवेचनात्मक नहीं होता।"[1]

अंग्रेजी कोष में 'Essay' का नूतन अर्थ इस प्रकार दिया है :

"एस्से सीमित आकार किन्तु विस्तृत शैली में लिखी हुई एक रचना है।"[2]

अब, अंग्रेजी एस्से (Essay) की नूतन परिभाषा और हिन्दी निबन्ध में कोई मूलभूत अन्तर नहीं रह गया है। ये दोनों शब्द समानार्थी हो गए हैं। हर्बर्ट रीड के विचारों के अनुरूप ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी निबन्ध की चर्चा करते हुए लिखा है : "संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले रहते हैं। तत्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरे में कहीं नहीं फँसता; पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता रहता है, यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।" इस प्रकार, निबन्ध एक रचना-शैली है, जिसमें लेखक किसी विषय पर व्यक्तिगत ढंग से विचार करता है। निबन्ध को एक स्वरूप देने के लिए निम्नलिखित आवश्यक तत्व निर्धारित किए गए हैं।

निबन्ध के तत्व

(१) निबन्ध के तत्वों में मुख्य है इसकी गद्य-रचना। सामान्यत: निबन्ध एक छोटी गद्य-रचना के रूप में होता है किन्तु अपवादस्वरूप एकाध स्थल पर यह पद्य में भी लिखा गया है।

(२) उसमें (निबन्ध में) लेखक के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। निबन्धकार शास्त्रीय मत का प्रतिपादन नहीं करता है प्रत्युत वह विषय के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करता है। निबन्ध में लेखक की अनुरक्ति-विरक्ति

1. "...Essay gives not a biography nor a critical analysis nor a history nor a treatise. It is personal in its approach, but not intimate ; objective rather than discursive."

2. Essay is a composition more or less elaborate in style though limited in length.

स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। निर्बन्ध निबन्ध का लेखक व्यक्तित्व की ही व्यंजना करता है। जब कि परिबन्ध निबन्ध का लेखक विषय और व्यक्तित्व का सामञ्जस्य करते हुए चलता है।

३. निबन्ध अपने में पूर्ण रचना है। यद्यपि निबन्ध का विषय-क्षेत्र संकीर्ण होता है और वह केवल विषय के किसी एक पहलू पर ही विचार करता है, फिर भी वह एकबद्ध होता है। उसके प्रारम्भ, मध्य और उपसंहार में तारतम्य होता है।

४. यह अत्यन्त रोचक रचना-प्रकार है। रोचकता निबन्ध की सफलता और लोकप्रियता का प्राण है। अंग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य में भी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही इस रचना-शैली का विकास हुआ है। अतः रंजकता सहज रूप से ही इसका अंग बन गई है। निबन्ध में लेखक की प्रतिभा का समावेश होने के कारण सजीवता आ जाती है। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिए ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता का प्रयोग किया जाता है, जो लेखक की प्रतिभा का बल पाकर बड़ा रोचक बन जाता है।

५. भावों का पुट—अच्छे निबन्ध में भावों का योग बराबर देखा जाता है क्योंकि निबन्धकार इस क्षेत्र में अपनी पूरी सत्ता—ज्ञानात्मक और भावात्मक—के साथ चलता है। निबन्ध में जब कि लेखक का व्यक्तित्व व्यंजित होता है तब यह आवश्यक ही है कि इसमें उसके हृदय-पक्ष का भी योग हो। रामचन्द्र शुक्ल के कई विचार-प्रधान निबन्धों में गहन विचार-वीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोतों का विधान मिलता है। उनके 'लोभ और प्रीति', 'श्रद्धाभक्ति,' 'करुणा' जैसे निबन्धों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है।

६. औपचारिकता का अभाव—अन्य रचना-प्रकारों की अपेक्षा निबन्ध में औपचारिकता कम या नहीं ही होती। इसके भीतर पाठक और लेखक का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वास्तव में उत्कृष्ट निबन्ध एक खुला पत्र है जो किसी व्यक्ति-विशेष को तो सम्बोधित करके नहीं लिखा गया होता पर जो भी सहृदय पाठक उसे पढ़ता है, वही समझता है कि यहाँ लेखक मुझे सम्बोधित कर रहा है।

निबन्धों का वर्गीकरण

हिन्दी साहित्य में उपलब्ध निबन्धों की विषय-विविधता तथा वर्णन-शैली की भिन्नता को देखकर निबन्ध को स्थूल रूप से दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है :

१. परिबन्ध निबन्ध (Objective Essays) या विषयनिष्ठ।

२. निर्बन्ध निबन्ध (Subjective Essays) या विषयीनिष्ठ।

परिबन्ध निबन्ध में आकार की लघुता रहती है पर उसमें संगति और व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जाता है। उसकी विचार-भूमि एक नमूने पर कटी-छँटी, और सजी-सजाई होती है। इसमें विषय की प्रधानता सदा रहती है और लेखक का व्यक्तित्व यद्यपि अन्य रचना-प्रकारों की अपेक्षा अधिक खुलकर सामने आता है पर उसके स्वतन्त्र पर्यवेक्षण, विषय के मार्मिक विवेचन और अर्थगाम्भीर्य का ध्यान भी बराबर रखा जाता है। इस प्रकार के सबसे अच्छे निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल हैं, जिनमें विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन में वैज्ञानिक की-सी यथार्थता, सूक्ष्मता और सतर्कता रहती है तथा भावों को प्रेसित करने के अनुकूल भावमय वातावरण उत्पन्न करने, संवेदना लाने और व्यक्तित्व की व्यंजना करने में 'साहित्यिक की पूरी सहृदयता।' इनका कहना है कि निबन्ध में 'सब अवस्थाओं में कोई बात अवश्य चाहिए।' इसीसे यह स्पष्ट होता है कि विषय की प्रधानता ये स्वीकार करते हैं। व्यक्तित्व की व्यंजना निबन्ध की एक बड़ी विशेषता है, यह उन्हें भी मान्य है, पर उसके स्वरूप का निर्णय इस प्रकार करते हैं: "संसार की हरएक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का मन किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए; पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले रहते हैं। तत्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता, पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता रहता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।" इसके अतिरिक्त निबन्धकार में हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों का सम्यक् योग रहता है और तत्वचिन्तक या वैज्ञानिक की रचना में केवल तर्कसम्मत बुद्धि-पक्ष का ही विस्तार मिलता है।

निर्बन्ध निबन्ध में लेखक की मन:स्थिति स्वच्छन्द रहती है। इस प्रकार के निबन्ध की पुष्टता (Unity) मन के भावों की एकसूत्रता पर निर्भर होती है, इसमें गद्य-रचना की बाहरी स्थूल व्यवस्थाओं का बन्धन अपेक्षित नहीं होता। इस प्रकार की रचना हृदय से उद्भूत होने के कारण मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण होती है और निबन्धकार के प्रातिभ ज्ञान द्वारा निर्धारित

मानवीय संवेदनाओं की परिधि ही उसकी सीमा है। सहसा उदित कोई भाव, कोई घटना, बातचीत का कोई प्रसंग लेखक के मन में विचारों की एक शृंखला उपस्थित कर देता है जिससे निबन्ध का स्वरूप निर्धारित हो जाता है।

ऐसे निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व ही प्रधान रूप से पाठक के सामने आता है, विषय गौण होता है। इसमें व्यक्त बातों को समझने के लिए पाठक को यह आवश्यक हो जाता है कि वह लेखक के व्यक्तित्व के विषय में पूर्व परिचय प्राप्त करे और उसके अभिव्यक्ति के ढंग (हास्य, व्यंग्य, लक्ष्यादि) के विषय में भी जानकारी रखे। इस प्रकार के निबन्ध-लेखक का प्रधान उद्देश्य शेष सृष्टि के प्रति अपनी निजी प्रतिक्रियाओं और अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से पाठक को परिचित कराना होता है। इस तरह के निबन्धकार में शेष सृष्टि के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को जानने के लिए पूरी भावज्ञता अपेक्षित होती है।

निर्बन्ध निबन्ध का लेखक रचना के कतिपय स्थिर मापदण्डों की भी अवहेलना कर मानस की तरंगों में स्वच्छन्द विहार करना चाहता है। इसकी शैली अव्यवस्थित होती है, कल्पना-जन्य भाव-प्रतिमाएं बिखरी-सी प्रतीत होती हैं यद्यपि अलग-अलग वे स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। इसमें विवेक आदि औपचारिक बन्धनों का पूर्ण बहिष्कार होता है। इस कारण पाठक, लेखक से अधिक सामीप्य का अनुभव करता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के निबन्ध 'धोखा,' 'अपूर्ण,' 'क्या लिखूं ?' आदि हैं।

इस प्रकार विषय की प्रधानता की दृष्टि से तो निबन्ध को स्थूल रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—परिबन्ध निबन्ध और निर्बन्ध निबन्ध। परन्तु अभिव्यक्ति की विविध प्रणालियों को ध्यान में रखते हुए विशद् रूप से विश्लेषण करने पर निबन्ध को चार मुख्य भागों में बांटा जा सकता है : कथात्मक (Narrative), चिन्तनात्मक (Reflective), वर्णनात्मक (Descriptive) और भावात्मक (Emotional)।

परन्तु इन प्रकारों में से किसी एक प्रकार को अपनाने के लिए कोई निबन्धकार बाध्य भी नहीं। वह मिश्रित शैली का भी प्रयोग कर सकता है या इससे भिन्न भी कोई शैली अपना सकता है। फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण को विद्वानों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

१. कथात्मक निबन्ध : इसका अधिकांश सम्बन्ध काल से है, इसमें वस्तु को उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। डा० श्रीकृष्णलाल का मत है कि "हिन्दी साहित्य में कथात्मक निबन्ध हमें तीन रूपों में मिलते हैं। कुछ निबन्ध

स्वप्नों की कथा के रूप में हैं, जैसे केशवप्रसाद सिंह का 'आपत्तियों का पहाड़', लल्लीप्रसाद पाण्डे का 'कविता का दरबार' इत्यादि। धीरे-धीरे लेखकगण स्वप्नों की कथा से आगे बढ़कर अपने दिवा-स्वप्नों और स्वप्निल भावों का भी वर्णन करने लगते हैं। अस्तु, कमला प्रसाद अपने लेख 'क्या था ?' (लक्ष्मी, जून १९१९) में अपने दिवास्वप्न का चित्रण करते हैं :

"आह, वह क्या था ? क्या पीतवर्ण भी मेघमाला में होता है ? यदि होता हो तो वह ऐसे ही वारिद-खण्डों के चन्द्र का अंश था। मैं कह नहीं सकता, पर अहा ! वह विलक्षण अलौकिक छवि अवश्य ही नन्दन-कानन विहारिणी अप्सराओं की प्रतिमूर्ति थी। सौन्दर्य की आज तक कोई परिभाषा नहीं बनी, उसकी कोई सीमा नहीं उपस्थित हुई, उसकी कोई तुलना नहीं; फिर कैसे कहूँ कि वह छवि सुन्दर थी। जो हो, मैं उसे सुन्दर समझता था। मेरी आँखें इस विश्व में यदि एक बार पर्यटन कर पातीं, यदि संसार भर की छवियों को एक-एक कर देखने का अवसर प्राप्त कर सकतीं, तो भी यही कहतीं कि सबसे अधिक सुन्दर छवि वही है।"

इस उदाहरण में यह कथात्मक निबन्ध नहीं रह गया है वरन् वर्णनात्मक निबन्ध की श्रेणी में पहुँच गया है क्योंकि इसमें लेखक अपनी भावनाओं का वर्णन कर रहा है। कथात्मक निबन्ध ज्यों-ज्यों वर्णनात्मक निबन्धों के निकट पहुँचता है, त्यों-त्यों उसकी भाषा अधिक कवित्वपूर्ण और व्यंजनायुक्त होती जाती है।

कथात्मक निबंधों की दूसरी शैली आत्मचरितों की है, जिनमें किसी भावना-वस्तु इत्यादि का मानवीकरण करके उसका चरित्र उसी के शब्दों में सुनाया जाता है। 'इत्यादि की आत्मकहानी', 'दीपक देव का आत्मचरित' आदि इसी प्रकार के कथात्मक निबन्ध हैं। इनमें इत्यादि और दीपक ने स्वयं अपनी कहानी कही है। पार्वतीनन्दन के लेख 'तुम हमारे कौन हो ?' (सरस्वती, अप्रैल १९०४) में जब लेखक सूर्य से पूछता है कि तुम हमारे कौन हो ? और तुमसे हमारा क्या सम्बन्ध है ? तब सूर्यनारायण अपनी कथा आरम्भ करते हैं—"मेरा नाम सूर्य है। मेरे और भी नाम हैं—दिनकर, दिवाकर, प्रभाकर, रवि, भानु, आदित्य, अंशुमाली वगैरह पर सरकारी नाम मेरा सूरज है।"

कथात्मक निबन्धों की तीसरी श्रेणी कहानी-शैली के निबन्धों की है। 'राजकुमारी हिमांगिनी', 'महाराज सूरजसिंह और बादलसिंह की लड़ाई' इत्यादि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। कवित्वपूर्ण भाषा या शैली में लिखने पर ये निबन्ध गद्य में खण्डकाव्य के समान जान पड़ते हैं। लक्ष्मण गोविन्द आठले का 'वर्षा-विजय' इसी प्रकार का निबन्ध है।

२. **वर्णनात्मक निबन्ध** : इसमें लेखक किसी प्राकृतिक वस्तु, किसी स्थान, प्रान्त, अथवा किसी मनोहर आह्लादकारी दृश्य का वर्णन करता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के निबन्ध-लेखकों की दो कोटियाँ मिलती हैं। प्रथम वे हैं जिन्होंने वर्णन की व्यास-शैली को अपनाया है। इसमें एक ही बात को समझा-समझाकर विस्तार के साथ कहा जाता है।

वर्णनात्मक निबन्धों में व्यास-शैली का उदाहरण देखिए :

"निर्मल वेत्रवती पर्वत को बिदारकर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से समभूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्ददायक बाघनाद मीलों से कर्ण में प्रवेश करता है और जलकरण उड़-उड़कर मुक्ताहार की छवि दिखाते हैं और रवि-किरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्रधनुष बनते हैं। नदी की थाह में नाना रंग के प्रस्तरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जलधारा की छटा दिखाती है।"

—कृष्ण बल्देव वर्मा के 'बुन्देलखंड पर्यटन' से।

वर्णनात्मक निबन्धों में समास-शैली का भी प्रयोग किया गया है। इसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य रहता है। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा लिखा हुआ जंगबहादुर नाम के पार्वतीय कुली का वर्णन लीजिए :

"पार्वतीय पथ और पत्थरों की चोट से टूटे नाखून और चुटीली उंगलियों के बीच में ढाल बनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु बनाकर भी खुर न देने वाले परमात्मा का उपहास कर रही थी। पाँव से दो बालिस्त ऊँचा और ऊनी-सूती पैबन्दों से बना हुआ पैजामा मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्बना जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट में, नीचे के मटमैले अस्तर की झाँकी देती हुई ऊपरी तह तार-तार फटकर झालरदार हो उठती थी और अब अपने पहनने वाले को एक झबरे जन्तु की भूमिका में उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रंग और अनिश्चित रूप वाली दोपालिया टोपी के छेदों से रूखे बाल जहाँ-तहाँ झाँककर मैले पानी और उसके बीच-बीच में झाँकते हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।"

—श्रीमती महादेवी वर्मा
(स्मृति की रेखाएँ)

३. **चिन्तनात्मक या विचारात्मक निबन्ध :** इसमें तर्क का सहारा अधिक लिया जाता है; यह मस्तिष्क की वस्तु है। भावात्मक निबन्ध का सम्पर्क सीधे हृदय से होता है, बुद्धि-पक्ष इसमें गौण होता है तथा रस और भावों की सुन्दर व्यंजना होती है। यद्यपि काव्य के चारों तत्व (कल्पना-तत्व, रागात्मक तत्व, बुद्धि-तत्व और शैली-तत्व) सभी प्रकार के निबन्धों में अपेक्षित रहते हैं तथापि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में कल्पना की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि-तत्व को और भावात्मक निबन्धों में रागात्मक तत्व को मुख्यता मिलती है। शैली-तत्व सभी में समान रूप से वर्तमान रहता है। वर्णनात्मक और कथात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों में कहीं चिन्तन की और कहीं भावात्मकता की प्रधानता हो सकती है। किसी-किसी निबन्ध में भावात्मक तथा विचारात्मक तत्वों का सुन्दर सामञ्जस्य होता है।

अन्य निबन्धों की अपेक्षा विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि का पुट अधिक मिलता है। आचार्य शुक्ल जी ने विचारपूर्ण निबन्धों का आदर्श इस प्रकार निर्धारित किया है :

"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हो।"

शुक्ल जी ने स्वयं अपने निबन्धों में उपर्युक्त कथन का निर्वाह किया है। समास-प्रधान शैली के निबन्धकारों को यह आदर्श अभीष्ट है। समास-प्रधान शैली में 'गागर में सागर' अर्थात् थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति रहती है।

समास-प्रधान शैली का सुन्दर उदाहरण हमें शुक्ल जी के निबन्ध 'करुणा' में भली प्रकार मिलता है। उदाहरण के लिए देखिए :

"दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। करुणा से क्रोध दुख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है।"

इसके अतिरिक्त विचारात्मक निबन्ध व्यास-शैली में भी लिखे गए हैं। इस प्रकार की शैली में वस्तु को उचित फैलाव के साथ समझा-समझाकर कहने की ओर झुकाव होता है। विचारात्मक निबन्धकारों में डा० श्यामसुन्दरदासजी ने

व्यास-शैली को अपनाया। इनके प्रमुख निबन्ध 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' में से उद्धृत गद्य-खंड में इस शैली की सुन्दर झलक मिलती है। उदाहरण के लिए देखिए :

"भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के ऐकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है।"

अपने विचारात्मक निबन्धों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी समास-शैली का प्रयोग किया है।

विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं। इस प्रकार के निबन्धकारों को विचारों के सन्तुलन का सर्वदा ध्यान होता है। वे भावोद्रेक में विस्मृत होकर विषयान्तर होने के परम विरोधी होते हैं। हिन्दी साहित्य में विचारात्मक निबन्धों के प्रसिद्ध लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास और महावीरप्रसाद द्विवेदी हैं।

४. भावात्मक निबन्ध : इस प्रकार के निबन्ध की आत्मा पर प्रकाश डालते हुए डा० श्रीकृष्णलाल जी लिखते हैं कि जिन निबन्धों में रस और भावों की व्यंजना प्रधान रूप से परिलक्षित होती है, उन्हें भावात्मक निबन्ध कहते हैं। भावात्मक निबन्धों में लेखकगण भावावेश में आकर अपनी भावनाओं का एक तूफान-सा खड़ा कर देते हैं। उनके हृदय में रस की एक धारा-सी उमड़ पड़ती है जो उनकी लेखनी से कागज पर ढल पड़ती है। यथा, पण्डित गणपति शर्मा की मृत्यु पर पद्मसिंह शर्मा शोकावेग में लिखते हैं :

"हा, पण्डित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गए। हाय ! हाय ! क्या हो गया ? वह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक जैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके वियोग-बाण ने कलेजे को बींध दिया ; यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण-पखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा ! निर्दय-काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने

किसी भव्यमूर्ति को तोड़कर हृदय-मन्दिर सूना कर दिया।"

भावात्मक निबन्ध कभी-कभी स्वगत-भाषण का भी रूप ले लेता है जबकि लेखक नाटकीय ढंग से किसी अदृश्य वस्तु या व्यक्ति को सम्बोधन करके अपनी भावनाओं का कवित्वपूर्ण और नाटकीय प्रदर्शन करते हैं। अस्तु, 'आशा' लेख में मातादीन शुक्ल लिखते हैं:

"आशा! आशा! कौन? कौन? क्या तुम हो? नहीं, नहीं तुम तो नहीं हो। मुझे ही भ्रम है, अब पहचान पाया। तुम आशा हो। तुम्हारे स्वरूप की, तुम्हारे रूप-लावण्य की, तुम्हारी आकर्षण-शक्ति की संसार प्रशंसा करता था—क्या ये सब गुण तुम्हीं में हैं? नहीं, नहीं कदाचित् संसार भ्रम में हो। मुझे तो विश्वास नहीं आता। तुम्हारी मूर्ति तो मुझे बड़ी भयंकर जान पड़ती है।"

(मर्यादा, जु० १९१९)

इस उद्धरण में रसात्मकता का प्राधान्य है। निबन्धों की इसी शैली को 'प्रलाप शैली' और इस प्रकार के निबन्धों को 'प्रलाप निबन्ध' कह सकते हैं। इन भावात्मक लेखों में जब सुन्दर, कवित्वपूर्ण भावों और रसों की व्यञ्जना होती है, तब वे गद्यगीत के नाम से पुकारे जाते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य चतुरसेन शास्त्री का एक गद्यगीत 'कहाँ जाते हो?' पढ़िए:

"और एक बार तुम आए थे, यही तुम्हारा ध्रुव श्याम रूप था; यही तुम्हारा विनिन्दित अभ्यस्त हास्य था, अक्षुण्ण मस्ती थी। इसी तरह तुमने तब भी भारत के नर-नारी—सब लोगों को मोह लिया था। कृष्ण, यमुना इसकी साक्षी है।"

(प्रभा, अगस्त १९२२)

भावात्मक निबन्धों की रचना प्रायः तीन प्रकार की शैलियों में की जाती है—धारा-शैली, तरंग-शैली तथा विक्षेप-शैली। धारा-शैली में विरचित निबन्धों में भावों का प्रवाह बराबर बना रहता है। किन्तु तरंग-शैली में भावों का उतार-चढ़ाव परिलक्षित होता है। विक्षेप-शैली में भावों की गति उखड़ी तो रहती है, किन्तु उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का भी ध्यान रखा जाता है।

सरदार पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्धों में धारा-शैली का उदाहरण मिलता है। उनके 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत निम्नलिखित उद्धरण में यह शैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है:

"तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, धड़ाम से नीचे! कारण केवल इसका यही है कि वह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; पृथ्वी से अपना

आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम की ही दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।"

तरंग-शैली धारा-शैली और विक्षेप-शैली के बीच की वस्तु है। माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य देवता' शीर्षक निबन्ध के निम्नलिखित उद्धरण से इस शैली का आभास मिल जाता है :

"मैं तुम्हारी एक तस्वीर खींचना चाहता हूँ, मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, कलम की जीभ को बोल लेने दो। किन्तु हृदय और मसि-पात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध विराम, अल्हड़ता का अभिराम केवल श्याम मात्र होगा। परन्तु ये काली बूँदें अमृत से अधिक मूल्यवान हैं, मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

"परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र? बड़ी टेढ़ी खीर है! सिपहसालार, तुम देवत्व को मानवत्व की चुनौती देते हो। हृदय से छन-छन धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की दौड़ हो, और हो उसके अतिरेक के रक्त-तर्पण भी। आह, कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की वंशी की धुन हो, धुन वह जो 'गोकुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है।"

भावात्मक निबन्धों में विक्षेप-शैली : इस शैली में विरचित निबन्धों में बुद्धितत्व का बहुत अभाव रहता है। उदाहरण के लिए वियोगी हरि के निबन्ध 'साहित्यिक चन्द्रमा' का निम्नलिखित अवतरण देखिए :

"हे मृगलांछन! पाप छिपाए नहीं छिपता, किसी न किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गए। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हाँ, मुख बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलंक मरने पर भी न छूटेगा। मदिरापान क्या बट्टे-खाते जायेगा? वियोगियों को जला देना क्या हँसी-खेल है? अभी तो जरा-सी कालिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं।" महाराज डा० रघुवीर सिंह का 'ताज' शीर्षक लेख भी इसी शैली का द्योतक है।

भावोद्रेक की तीव्रता के कारण जब विक्षेप-शैली का लेखक मर्यादा का उल्लंघन कर बैठता है, तब उसमें उच्छृंखलता आ जाती है और उसका निबन्ध प्रलाप की कोटि में गिना जाने लगता है। विक्षेप-शैली में प्रलाप की अपेक्षा

भावावेशजन्य उच्छृंखलता कुछ कम रहती है और वह एकदम से मर्यादा की अवहेलना भी नहीं कर बैठता।

भावात्मक निबन्धों की भाषा : इस तरह के निबन्धों में संकेत द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति का पूर्ण चमत्कार देखने को मिलता है। मर्मस्पर्शिता, सजीवता, ओजस्विता और भाव के अनुसार भाषा का चढ़ाव-उतार इन सबके द्वारा लेखक पाठक के मन पर पूरा प्रभाव डालता है, ऐसे निबन्ध में भाव की सचाई और लेखक की तन्मयता जितनी अधिक रहती है, रचना उतनी ही अधिक प्रभावशाली बन पड़ती है।

बारहवाँ अध्याय

हिन्दी कहानी के तत्व और कहानीकार

लोकरंजन के लिए कहानी कहने की प्रवृत्ति मनुष्य में आदिम काल से ही चली आ रही है, परन्तु इसे साहित्य के रूप में बीसवीं शताब्दी में ही स्वीकार किया। प्रारम्भिक कहानियों में मनुष्य की आदिम मनोवृत्तियों को आधार मानकर प्राकृत तथा अप्राकृत प्रसंगों की योजना द्वारा, कहानीकार का उद्देश्य केवल लोकरंजन करना था। इसमें कथानक का विकास दैवी घटनाओं (Chances) और संयोगों (Coincidences) द्वारा हुआ करता था। परन्तु अस्वाभाविक और अतिमानुषिक प्रसंगों से भरी रहने के कारण यह (प्रारम्भिक कहानी) मनुष्य में कुतूहल तो पैदा कर सकती थी पर वास्तविकता से दूर होने के कारण लोकजीवन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती थी। अतः साहित्य में, जिसका प्रधान उद्देश्य लोक-जीवन के आदर्शों का दिग्दर्शन करना होता है, इन कथानकों को प्रवेश न मिल सका।

आधुनिक युग की साहित्यिक कहानी मानवकेन्द्रित होने लगी है। इसका बिषय मनुष्य की किसी एक मनोवृत्ति का यथार्थ चित्रण करना है। चरित्र-चित्रण में मानव-सुलभ सत्य का ही ध्यान रखा जाता है, चाहे वह सत्य मनोवैज्ञानिक हो अथवा व्यावहारिक। कहानी का आकार सीमित होने के कारण इसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण चित्रण तो सम्भव नहीं परन्तु किसी एक पक्ष का प्रभावोत्पादक चित्रण किया जा सकता है। इसमें पात्रों के व्यक्तित्व की एक झाँकी मिल जाती है। उपन्यास की भाँति इसमें वातावरण का विस्तार अथवा अनेक दृश्यों, घटनाओं या परिस्थितियों का विधान नहीं होता। कहानीकार केवल एक ही दृश्य पर सारा आलोक केन्द्रस्थ कर उसके प्रभाव को तीव्रतम बना देता है। उपन्यासकार की भाँति कहानीकार को अपने पात्रों को अनेक परिस्थितियों में उलझाकर उनकी प्रतिक्रिया दिखाने का अवसर नहीं होता, जो जीवन की अनेकरूपता प्रदर्शित करने के लिए अत्यन्त अपेक्षित है।

कहानी की परिभाषा करते हुए किसी ने कहानी के रूप और आकार पर ही बल दिया और किसी ने उसकी भाव-व्यंजना को ही मुख्य माना है। अंग्रेजी

उपन्यासकार एच. जी. वेल्स ने कहानी को वह कथा कहा है जो एक घण्टे में पढ़ी जा सके (Fiction that can be read in an hour)। इस प्रकार इन्होंने कहानी का संक्षिप्त होना ही मुख्य बतलाया।

वास्तव में अच्छी कहानी में भाव-व्यंजना और शिल्प-विधान दोनों का सुन्दर मेल होता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए सर ह्यू वालपोल (Sir Hugh Walpole) ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार की : "कहानी एक कहानी होनी चाहिए, उसमें घटनाओं और आकस्मिकता का लेखा-जोखा होना चाहिए, उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास होना चाहिए जो कौतूहल द्वारा चरम बिन्दु और संतोषजनक अन्त तक ले जाए।"[1]

रायबहादुर डॉ० श्यामसुन्दरदास जी ने अपनी परिभाषा में नाटकीय ढंग पर अधिक बल दिया है किन्तु निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को उन्होंने भी आवश्यक माना है, उनकी परिभाषा इस प्रकार है : "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।"

सभी की गई परिभाषाओं का समन्वय करते हुए श्री गुलाबराय जी ने आख्यायिका की परिभाषा इस प्रकार की है :

"छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है, जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करनेवाली व्यक्ति-केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहलपूर्ण वर्णन हो।"

कहानी के तत्व

उपन्यास की भाँति कहानी में भी छः तत्व—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण, चरम सीमा, उद्देश्य और शैली होते हैं परन्तु उनके स्वरूप में अन्तर होता है।

१ **कथावस्तु** : कहानी की कथावस्तु अत्यन्त सक्षिप्त होती है। उसमें जीवन के किसी एक रम्य दृश्य का उद्घाटन होता है। इसे प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कहानीकार अपने पात्र के व्यक्तित्व के उस मध्यबिन्दु को व्यंजित करता है, जिससे उसका सम्पूर्ण जीवन चालित होता है। सारी कथावस्तु में केवल एक ही संवेदना व्याप्त रहती है।

---

1. A short story should be a story, a record of things full of incident, and accident, swift movement, unexpected development leading through suspense to a climax and a satisfying denouement.

कहानी की कथावस्तु का गठन कुछ निश्चित नियमों के आधार पर होता है। जिनमें मुख्य प्रारम्भ, विकास, कौतूहल और चरम सीमा हैं। उपन्यास की कथावस्तु में इनके अतिरिक्त दो अन्य तत्व और भी होते हैं। वे हैं—उतार (Anti-climax) और निगति (Denouement)। कहानी को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कहानीकार इसे चरम सीमा (Climax) तक ले जाकर छोड़ देता है जिससे संवेदनशीलता पाठक के मन पर अन्तिम छाप छोड़ जाती है और उसका औत्सुक्य बना रहता है। उपन्यास की भाँति इसमें संघर्षों की निवृत्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता। इस प्रकार उपन्यास और कहानी की कथावस्तु में मौलिक भेद है।

प्रारम्भ : कहानी संक्षिप्त रचना होने के कारण इसमें भूमिका न बाँधकर बात को सीधे ढंग से कहा जाता है। कहानी का पहला वाक्य ही मूल संवेदना के आविर्भाव के लिए वातावरण प्रस्तुत कर देता है। शैली की दृष्टि से कहानी का प्रारम्भ तीन प्रकार से हो सकता है : वर्णनात्मक ढंग से, वार्तालाप के रूप में, आत्मकथा की शैली में।

कुछ कहानीकार कथावस्तु का आरम्भ वर्णनात्मक ढंग से करते हैं, जिसमें लेखक एक तीसरे मनुष्य की भाँति कहानी का यथातथ्य वर्णन करता है। उदाहरण के लिए देखिए :

"लाजवन्ती के, हाँ, कई पुत्र हुए, परन्तु सबके सब बचपन में ही मर गए। अन्तिम पुत्र हेमराज उसके जीवन का आश्रय था।"

(तीर्थ-यात्रा—पृ० १)

और इसी प्रकार लेखक पूरी कहानी सुना जाता है। कहीं-कहीं वह प्रकृति का वर्णन करता है, कहीं पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की ओर भी संकेत करता है, और कहीं-कहीं उसके सम्भाषण ज्यों के त्यों लिख देता है। इस शैली में लेखक को मनुष्य और प्रकृति के चित्रण के लिए पूर्ण स्वतंत्रता मिलती है। वह पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सरलता और प्रभावशाली रूप में कर सकता है। इसीलिए कहानी की यह सबसे अधिक प्रभावशाली और सरलतम शैली है। यह शैली वातावरण-प्रधान कहानी के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है।

कहानी प्रारम्भ करने की दूसरी शैली वार्तालाप के रूप में है। इसमें कहानी की कथा और चरित्र बातचीत के सहारे विकसित होते हैं। परिस्थितियों का ज्ञान कराने के लिए बीच-बीच में वातावरण का चित्रण वर्णनात्मक ढंग से भी किया जाता है। परन्तु डा० श्रीकृष्णलाल का मत है कि कथानक और

चरित्र का विकास साधारणतः संलापों के द्वारा ही कराया जाता है। उदाहरण के लिए 'कौशिक' रचित 'ताई' का प्रारम्भ देखिए :

"ताऊ जी, हमें लेलगाड़ी ला दोगे" कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामदास की ओर दौड़ा।

बाबू जी ने दोनों बाहें फैलाकर कहा, "हाँ, बेटा ला देंगे।"—यहाँ लेखक ने बिना यह बताए ही कि बाबू रामदास जी कौन हैं और इस बालक का क्या नाम है, कहानी का आरम्भ कर दिया। इसे उसने पीछे वर्णनात्मक ढंग से बतला दिया। इस प्रकार के प्रारम्भ से एक प्रकार का नाटकीय सौंदर्य तो अवश्य आ जाता है, परन्तु वर्णनात्मक शैली की सरलता और सीधापन इसमें नहीं है। संलापों द्वारा कथानक और चरित्र का विकास इस शैली की सबसे महान् सफलता है। इसमें चरित्र अपने ही भाषणों द्वारा अपने को प्रकट करते हैं, जिससे चरित्र-चित्रण का महत्व बढ़ जाता है।

कहानी प्रारम्भ करने की तीसरी शैली आत्मचरित की है। इसमें सारी कहानी उत्तम पुरुष में कही जाती है। उदाहरण के लिए देखिए :

"मैं पंजाबिन हूँ, परन्तु मेरा नाम बंगालियों का-सा है। मैंने अपने सिवा किसी पंजाबिन लड़की का नाम 'रजनी' नहीं सुना।" इत्यादि और इसी प्रकार वह अपने विवाह, अपनी आँखों की चिकित्सा इत्यादि का विस्तृत वर्णन करके पूरी कहानी सुनाती है। इस प्रकार की शैली में अन्य शैलियों की अपेक्षा सत्य का आभास अधिक मिलता है।

कहानी में कथावस्तु-विकास : कहानी में विकास का उद्देश्य उसके पात्रों को अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति प्रदान करने तक ही है। कभी-कभी कहानीकार प्रारम्भ से ही ऐसे पात्रों की सृष्टि कर देता है, जिनको कहानी के अन्दर विकसित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि वे उससे पूर्व ही कहानीकार के अव्यक्त मानस में प्राण-शक्ति पा चुके होते हैं। परन्तु सभी कहानियों में ऐसा नहीं होता। कहानीकार के लिए साधारणतया यह आवश्यक होता है कि एक ओर तो उस कथावस्तु का क्रमिक विकास हो जिसका संकेत प्रारम्भ में दे दिया जाता है और दूसरी ओर पात्रों के चरित्र और उनके क्रिया-कलापों के लिए एक आधार तैयार हो जाए। यों तो स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि कब कहानी आरम्भ की स्थिति से विकास की स्थिति में आ जाती है, परन्तु विकास का कोई न कोई रूप कहानी में अवश्य रहता है। कभी विकास स्वतन्त्र रूप से आया हुआ होता है और कभी वह कुतूहल अथवा संघर्ष के अन्दर ही पर्यवसित रहता है। यह विकास अथवा परिचय चाहे किसी भी

रूप में क्यों न हो, गतिहीन होने पर अपने प्रभाव की रक्षा न कर सकेगा। गतिहीनता का कारण अनावश्यक विस्तार भी हो सकता है और लेखक के अनुपात-ज्ञान का अभाव भी।

कौतूहल और संघर्ष : क्रमशः विकास को प्राप्त करती हुई कहानी बड़ी शीघ्रता से पहले समस्याओं और फिर संघर्ष एवं द्वन्द्व की ओर बढ़ती है। वास्तव में कहानी का मूल तत्व ही कौतूहल है। 'हाँ फिर क्या हुआ'—यह जानने की निरन्तर इच्छा पर ही सारे कहानी-साहित्य की शक्ति छिपी हुई है। कहानीकार ने एक कहानी का प्रारम्भ कर दिया, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी, परन्तु यौवन का विस्मय और जीवन का संघर्ष यदि उसमें न रहे तो वह कहानी जीवित ही नहीं रह सकती। कौतूहल का कारण है, पात्रों की परिस्थितियाँ। कौतूहल की सृष्टि पात्रों की विशेष परिस्थिति और उनके आन्तरिक अथवा बाह्य द्वन्द्वों के बीच होती है। इसलिए कभी संघर्ष से पूर्व, कभी बाद में और कभी साथ ही साथ एक के अनन्तर दूसरे कौतूहल की योजना की जाती है। कौतूहल का उद्देश्य पाठकों के सामने ठीक एक ऐसी परिस्थिति रख देना है, जिसमें किसी पात्र की एक ही भूल सारी कहानी को दुखान्त और एक भी सावधानी से किया गया कार्य उसको सुखान्त बना सकता है।

चरम सीमा : उत्सुकता, आशा और आशंका के तीन मनोवेगों के बीच हिलोरें लेते हुए पाठक के सामने जब सारा संघर्ष अन्तिम मोड़ लेकर एक निश्चित फल के रूप में अपने पूर्ण वेग से बरस पड़ता है तो बिजली की तेजी से सारा कथानक स्पष्ट हो उठता है। यह स्थल ही चरम सीमा है। चरम सीमा में जो कुछ भी होना होता है वह हो जाता है। यहाँ पर कथानक में एक प्रकार से तनाव आ जाता है। यह पात्रों, घटनाओं और परिस्थितियों के संघर्षों के द्वारा उत्पन्न उलझनों की अन्तिम स्थिति है।

हिन्दी में कुछ कहानीकार ऐसे हैं जिन्होंने केवल कथानक-प्रधान ही कहानी लिखी है। इस प्रकार की कहानी उच्चकोटि की कृति नहीं मानी जाती। इसमें चरित्र-चित्रण पर, अथवा वातावरण और परिपार्श्व (Setting) पर प्रधान रूप से जोर नहीं दिया जाता वरन् उन उलझनों पर विशेष जोर दिया जाता है जो विविध चरित्रों के विविध परिस्थितियों में पड़ने के कारण पैदा हो जाती हैं। 'कौशिक' की अधिकांश कहानियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। ज्वाला-दत्त शर्मा और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की भी कहानियाँ कथानक-प्रधान ही हैं। इस प्रकार की कहानियों में कथानक का विकास बहुत स्वाभाविक और यथार्थ रीति से होना चाहिए, अस्वाभाविक रीति से होने से कहानी का सौन्दर्य

नष्ट हो जाता है। इसमें दैवीघटना और संयोग का विशेष हाथ रहता है।

चरित्र-चित्रण : मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ पात्र के व्यक्तित्व की व्यंजना कहानी का प्रधान अंग बन गई है। इसमें पात्र के चरित्र के उस अंग का चित्रण होता है, जिससे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का आभास मिल सके।

चरित्र-चित्रण के प्रकार : कहानीकार चरित्र-चित्रण के लिए मुख्यतः दो प्रकार की शैलियों का अनुसरण करते हैं। कुछ विश्लेषणात्मक (Analytical) ढंग को अपनाते हैं और कुछ नाटकीय ढंग को। विश्लेषणात्मक शैली का लेखक पात्र के चरित्र का स्वयं विश्लेषण करता चलता है और नाटकीय शैली का लेखक पात्र के वार्तालाप और कार्य-कलाप के माध्यम से उसके चरित्र का चित्रण करता है। चरित्र-चित्रण की नाटकीय शैली कला की दृष्टि से उत्कृष्ट मानी जाती है।

चरित्र-प्रधान कहानियों के रचयिताओं में प्रेमचन्द का प्रमुख स्थान है। उनकी 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'बांका गुमान', 'दफ्तरी', 'बूढ़ी काकी', 'सारंधा', 'मुक्ति-मार्ग', 'अग्नि-समाधि', आदि कहानियों में चरित्र-चित्रण की कला का सुन्दर उदाहरण मिलता है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद और आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी चरित्र-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं।

कहानियों में चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालते हुए डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है : "कहानियों में स्थानाभाव के कारण चरित्रों के सभी अंगों और पक्षों का विशद चित्रण सम्भव नहीं है, इसलिए केवल एक विशेष पक्ष ही बड़ी सावधानी से चित्रित किया जाता है, जिससे चरित्र का पूरा-पूरा चित्रण हो जाए और अन्य सभी पक्ष अछूते रह जाते हैं। जिस एक पक्ष का चित्रण कहानी में होता है, वह चरित्र के मुख्यतम गुणविशेष का द्योतक होता है और लेखक संक्षेप में ही उसका सुन्दरतम चित्र खींचता है।"

इस प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियों के चरित्र प्रायः सभी प्रकार-विशेष के अन्तर्गत आ जाते हैं और आत्मत्याग, वीरता, प्रेम, कायरता इत्यादि विशिष्ट गुणों अथवा अवगुणों के प्रतीक स्वरूप होते हैं। सच तो यह है कि कहानी के सीमित स्थान में व्यक्तिगत चरित्रों का चित्रण सम्भव ही नहीं है, क्योंकि किसी चरित्र का व्यक्तीकरण करने के लिए लेखक को उस चरित्र के उन विशेष गुणों को दिखाना चाहिए, जिनसे वह अपने समुदाय के व्यक्तियों से पृथक् किया जा सके और उन विशेष गुणों को दिखाने के लिए उस चरित्र को कुछ विशेष परिस्थितियों और प्रसंगों में चित्रित करना आवश्यक है, जिसके लिए कहानी में पर्याप्त स्थान नहीं होता। इसलिए चरित्रों के व्यक्तीकरण के लिए अधिक से

अधिक लेखक इतना ही कर सकता है कि कहीं-कहीं दो-चार अर्थगर्भित वाक्यों द्वारा चरित्र की कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन करा दे। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' रचित 'भिखारिन' ले लीजिए :

"सहसा जैसे उजाला हो गया—एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गई, 'कुछ हमको दे दो रानी माँ।' "

"निर्मल ने देखा, एक चौदह वर्ष की भिखारिन भीख माँग रही है।" इत्यादि।

(आकाश-दीप, पृ० ७६)

केवल दो लाइन का वर्णन है, परन्तु इन्हीं दो लाइनों ने 'प्रसाद' की भिखारिन को अन्य भिखारियों से पृथक् कर दिया है। 'धवल दाँतों की श्रेणी' और 'भोलापन के बिखेरने' से ही हम इस व्यक्ति-विशेष को पहचान लेते हैं। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह पता चलेगा कि 'धवल दाँतों की श्रेणी' और 'भोलापन बिखेरने' वाली भिखारिन भी भिखारिनों का प्रतीक स्वरूप ही है, "उसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है।"

कुछ ऐसी भी चरित्र-प्रधान कहानियाँ हैं जिनमें मुख्य पात्र के चरित्र में सहसा परिवर्तन दिखाया जाता है। अस्तु 'कौशिक' की 'ताई' नामक कहानी इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जिसमें रामेश्वरी के चरित्र में सहसा परिवर्तन दिखाया गया है। हिन्दी में इस ढंग की उत्कृष्ट कहानियाँ भी मिलती हैं। प्रेमचन्द इस ढंग की कहानी रचने में अत्यन्त कुशल थे। उनकी 'आत्माराम' कहानी में महादेव सुनार के चरित्र में, तीन सौ मुहरें मिलने के उपरान्त एकाएक परिवर्तन आ जाता है। वह एक ही रात में उदार हृदय और दानी मनुष्य बन जाता है।

५ वातावरण : उपन्यास की भाँति कहानी में वातावरण का विशद चित्रण करने के लिए स्थान नहीं होता, फिर भी मानसिक स्थिति की व्याख्या करने के लिए वातावरण का हल्का-फुल्का चित्रण कर दिया जाता है। वातावरण के द्वारा कहानी के पात्र से किसी मुख्य भावना का, जो कथानक के विकास का प्रधान कारण बनती है, उद्घाटन कराकर कहानी को अनुप्राणित किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के 'शतरंज के खिलाड़ी' को लीजिए। लखनऊ के नवाबी काल का विलासमय जीवन इस कहानी का वातावरण बनाता है, परन्तु यह वातावरण ही कथानक के विकास का मूल कारण नहीं; इसके विकास का कारण तो शतरंज खेलने के अपूर्व आनन्द की भावना में निहित है। कहानी के पात्र तो केवल निमित्त मात्र हैं।

हिन्दी में वातावरण-प्रधान कहानियां बहुत लिखी गई हैं। जयशंकर प्रसाद ने इस ढंग की बहुत-सी उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी हैं। विश्वम्भरनाथ जिज्जा की प्रथम कहानी 'परदेशी' वातावरण-प्रधान है। राधिकारमणसिंह जी भी वातावरण-प्रधान कहानी के श्रेष्ठ लेखक थे। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने प्रायः सभी कहानियाँ इसी प्रकार की लिखीं। उनकी 'प्रेम-परिणय', 'उन्माद', 'योगिनी' इत्यादि कहानियाँ प्रेम की भावना के किसी न किसी विशेष पक्ष से अनुप्राणित हैं।

कला की दृष्टि से वातावरण-प्रधान कहानियों का विशेष महत्व है। इसमें लेखक को अपनी कला की काट-छाँट और तराश दिखाने के लिए उपयुक्त अवसर मिलता है। वह वातावरण के चित्रण और परिपार्श्व (Setting) की अवतारणा में मनमाना रंग भर सकता है, नाद-ध्वनि की व्यंजना कर सकता है, काट-छाँट कर सकता है। यह प्रसाद की भाँति कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि कर सकता है। जैसे :

"वन्य-कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकम्पित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कूल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढँकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचनापूर्ण सुन्दर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देने वाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान-स्थान पर कुञ्जों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे-छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भाँति-भाँति के सुस्वादु फल-फूल वाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम।"

('स्वर्ग के खण्डहर में'—'आकाश-दीप' पृ०३१-३२)

प्रेमचन्द और सुदर्शन की कला लाक्षणिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है और यथार्थवादी वातावरण का सुन्दर चित्रण कर सकती है। इस प्रकार की कहानियों में कला का विशिष्ट स्थान होता है। कवित्वपूर्ण वातावरण, कवित्वपूर्ण भावना, नाटकीयता तथा आदर्शवादी परिस्थितियों की सृष्टि की जाती है। जयशंकर प्रसाद की कहानियों में ये गुण प्रधान रूप से मिलते हैं। उनकी कला कवित्व-पूर्ण और स्वच्छन्दवादी होने के कारण रोमांचकारी वातावरण प्रस्तुत करने में समर्थ होती है और सुदर्शन अपनी कला द्वारा यथार्थ का सुन्दर चित्रण कर सकते हैं।

६. उद्देश्य : मनोरंजन के साथ-साथ कहानी का उद्देश्य जीवन-सम्बन्धी कुछ तथ्य देना या मानव-मन का निकट परिचय कराना भी होता है। परन्तु इस उद्देश्य को उपदेशात्मक ढंग से व्यक्त नहीं किया जाता। उसकी केवल कलात्मक

ढंग से व्यंजना ही की जाती है। किन्हीं कहानियों में लेखक इस उद्देश्य की स्पष्ट व्यंजना भी कर देता है, जैसे सुदर्शन की 'एलबम' शीर्षक कहानी में। किन्हीं कहानियों में यह उद्देश्य अस्पष्ट रहता है और किन्हीं में अन्तिम वाक्य में सूक्ति रूप में व्यक्त किया जाता है, जिससे उक्ति-चमत्कार के कारण उसमें काव्यत्व आ जाता है। उदाहरण के लिए अज्ञेय जी की 'शत्रु' शीर्षक कहानी का अन्तिम वाक्य उद्धृत किया जा सकता है : "जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।"

कहानी का उद्देश्य जीवन-मीमांसा नहीं है। वह जीवन के प्रति एक दृष्टि-कोण का परिचय देती है। कुछ कहानीकार संसार के प्रति यथार्थवादी दृष्टि-कोण रखते हैं तो कुछ उसमें आमूल परिवर्तन के द्वारा आदर्श की स्थापना चाहते हैं। प्रगतिवादी दृष्टिकोण रखने वाले कहानीकारों की कहानी में क्रान्ति द्वारा जीवन में परिवर्तन की व्यंजना निहित रहती है।

शैली : भावाभिव्यक्ति की कला को शैली कहते हैं। अच्छी शैली में भाषा की लक्षणा-व्यंजना आदि सभी शक्तियों का उपयोग किया जाता है और कथन को प्रभावात्मक और पुष्टिकर बनाया जाता है। भाषा की दृष्टि से शैली दो प्रकार की होती है: चलती-फिरती मुहावरेदार शैली तथा अलंकृत संस्कृत-प्रधान शैली। प्रथम शैली का अत्यधिक प्रयोग मुन्शी प्रेमचन्द ने किया है और दूसरी शैली को प्रसाद जी ने अपनाया। चलते-फिरते मुहावरों के प्रयोग तथा लाक्षणिक शैली के द्वारा प्रेमचन्द की भाषा में एक उक्ति-चमत्कार मिलता है। इस प्रकार की शैली भावों को चित्र के रूप में प्रकट कर देती है, जिससे वे (भाव) आसानी से हृदय को ग्राह्य बन जाते हैं।

प्रसाद जी की शैली, संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी होने पर भी, प्रसाद गुणयुक्त रहती है। संस्कृत के शब्दों का प्रयोग वे इतनी कुशलता से करते हैं कि भाषा में अरोचकता नहीं आने पाती। उनकी भाषा में प्रवाह है और शब्दों में माधुर्य।

भाषा के अतिरिक्त कथनकला की दृष्टि से भी शैली के दो भेद किए गए हैं। एक है वर्णनात्मक शैली (Power of description), दूसरी है विव-रणात्मक शैली (Power of narration)।

जब कहानीकार को किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन या स्थायी गुण का चित्रण अभीष्ट होता है तो वह वर्णनात्मक शैली अपनाता है। घटनाचक्र और मानसिक अवस्थाओं का चित्रण विवरणात्मक शैली के माध्यम से सफलता-पूर्वक किया जाता है। विवरण के द्वारा कहानीकार हमारी उत्सुकता को सदा

उद्‌बुद्ध किए रहता है और कथानक की गति को बनाए रखता है। कहानी की गति में अवरोध आ जाने पर उसमें कृत्रिमता के भाव झलकने लगते हैं। सफल शैलीकार वही लेखक है जो अपनी तीव्र अनुभूतियों को भी गतिशील भाषा में व्यक्त कर सके।

गुलाबराय जी इस बात पर बल देते हैं कि "भाषा के सौष्ठव के साथ-साथ कहानी के मुख्य गुण संगति और प्रभाव की एकता को न भूलना चाहिए। अच्छी कहानी घटनाओं, भावों, विचारों तथा प्रारम्भ, प्रसार और अन्त में अन्विति लाने का प्रयत्न करती है।"

तेरहवाँ अध्याय

आत्मचरित के तत्व

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक पोप[1] का कथन है कि और लोग चाहे जो कुछ सोचें या विवाद करें, पर मेरे मत से मानव के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य ही है। सामान्यतः सभी प्रकार के साहित्य में मानव-शक्तियों का अध्ययन अन्तर्निहित रहता है किन्तु मानव-जीवन का विवेचन उसमें परोक्ष और काल्पनिक रीति से देखने को मिलता है। किन्तु आत्मकथा तथा जीवनियों में जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष और वास्तविक रूप में देखने को मिलती है।

उपन्यास और जीवन-चरित्र में अन्तर

पश्चिम में कई उपन्यास[2] 'विकर आफ वेकफील्ड', 'टोनो बंगे', 'डेविड कापर फील्ड' आदि जीवनियों की शैली पर लिखे मिलते हैं। हिन्दी में भी किसी-किसी उपन्यासकार ने इस शैली को अपनाया है। लोगों का मत है कि अज्ञेय जी का उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' भी इसी शैली का उपन्यास है। यद्यपि इस प्रकार के उपन्यासों में व्यक्ति के जीवन की झाँकी कहीं स्पष्ट, कहीं धुंधली, कहीं क्षीण, कहीं सघन रूप में देखने को मिलती है किन्तु उसमें लेखक की कल्पना का इतना पुट मिला रहता है कि उसे वास्तविक जीवन का लेखा-जोखा नहीं कह सकते। आत्मकथा या जीवनी में कल्पना और अत्युक्ति की इतनी अल्पमात्रा मिलती है, जितनी आटे में नमक की होती है। उपन्यासकार अपनी कला के बल से ऐसी रचना करता है जिसे पढ़कर सोचना पड़ता है कि यह चरित-नायक कौन हो सकता है। उपन्यासकार का मुख्य ध्येय नायक के चरित को कल्पना से अलंकृत कर आकर्षक रूप में पाठकों के सामने रखने का होता है और इसके लिए वह जीवन की घटनाओं पर कई ऐसे झीने आवरण चढ़ाता जाता है, जिनसे नायक का रूप सुन्दरतर होकर झाँकता रहता है। किन्तु जीवनी-लेखक इस मोह में

---

1. "Let others contend and whatever can,
   The proper study of mankind is man." —A. Pope
2. (*a*) Vicar of Wakefield—Oliver Goldsmith.
   (*b*) Tono Bungay—H. G. Wells.

अधिक नहीं फँसता। वह आकृति को सुन्दरतर करने के लिए मस्तक को बिन्दी से, वक्षस्थल को चंदन से, केशों को पुष्प से भले ही सजा दे किन्तु वास्तविक रूप को आवरण से ढकता नहीं।

उपन्यासकार को अपरिचित होते हुए भी यह गर्व है कि वह चरित्रनायक की नस-नस को पहचानता है। किन्तु जीवनी-लेखक अपने नायक के सब भेदों और रहस्यों को जानते हुए भी सर्वज्ञता का दावा नहीं करता। जीवनीकार चरित्रनायक की बाह्य और आभ्यन्तरिक स्थितियों का सामञ्जस्य करता हुआ कहता चलता है, क्योंकि उपन्यासकार की तरह बाह्य स्थितियों को परिवर्तित करने का अधिकार उसे नहीं प्राप्त है।

जीवनी और इतिहास

इतिहास में भी हम व्यक्तियों के जीवन के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करते हैं किन्तु उसका रूप आत्मकथा या जीवन-चरित्र से सर्वथा भिन्न है। इतिहासकार सत्य के बन्धन से इतना बँधा रहता है कि वह इच्छानुसार घटनाओं का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। वह देश की पृष्ठभूमि पर घटनाओं का चरित्र-चित्रण करना चाहता है। अथवा दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अङ्गी देश रहता है, व्यक्ति तो उसका अङ्ग होकर ही आता है। ठीक इसके विपरीत जीवनी में प्रधानता व्यक्ति को मिलती है; देश की घटनाएँ उसकी अनुवर्तिनी होकर आती हैं। यह सम्भव है कि जीवनी से जुड़कर किसी संस्था अथवा देश का इतिहास गौण रूप से भले ही आ जाए किन्तु मुख्य लक्ष्य नायक का कार्य-कलाप होता है, देश या संस्था का इतिहास नहीं।

जीवनी-लेखक के लिए चरित्रनायक की सामान्य से सामान्य बातें भी महत्व रखती हैं। वह चरित्रनायक के खाने-पहनने की रुचि, प्रातःकाल ईश्वर-वन्दना या भ्रमण आदि का वर्णन उतने ही उल्लास के साथ करता है, जितने उत्साह के साथ इतिहासकार किसी बड़े युद्ध या राजपरिवर्तन का वर्णन करता है। इतिहासकार के लिए ऐसी बातें अनावश्यक प्रतीत होती हैं किन्तु जीवनीकार के लिए वे अत्यावश्यक हैं।

हिन्दी में पिछले पचास वर्षों में आत्मचरित-सम्बन्धी प्रचुर साहित्य प्रस्तुत हुआ है। उसके आधार पर इसकी विभिन्न शैलियों का विवेचन किया जा सकता है। महात्मा गांधी,जवाहरलाल नेहरू,डा० राजेन्द्रप्रसाद, डा० श्यामसुन्दरदास प्रभृति मान्य नेता एवं साहित्यकारों की आत्मकथाओं से देश के इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि महात्मा जी की आत्मकथा देश की प्रायः अर्धशताब्दी

का प्रामाणिक इतिहास कहती चलती है तथापि इतिहासकार की दृष्टि से आत्म-कथा इतिहास नहीं बन सकती। हाँ, इतिहास की पूरक भले ही हो सकती है।

जीवनी का साहित्यिक मूल्य

"जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं वरन् चित्रण है, वह साहित्य की विधा है और उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण हैं। वह एक मनुष्य के अन्तर और बाह्य स्वरूप का कलात्मक निरूपण है।"[1]

जीवनीकार और राजदरबार में विरुदावली बखानने वाले कवि में अन्तर होता है। जीवनीकार का उद्देश्य अपने चरित्रनायक का व्यक्तित्व अभिव्यक्त करना होता है किन्तु विरुद बखाननेवाले चारण का उद्देश्य चरित्रनायक के राई समान गुण को सुमेरु के समान विशाल दिखाकर उसकी कृपा का भाजन बनना होता है। जीवनीकार एक चित्रकार के सदृश अपने नायक के व्यक्तित्व की 'कुन्जी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है।'

चारण कवि अपने आश्रयदाता राजा के गुण को शतगुण और राजा के शत्रु के दुर्गुण को सहस्रगुण दिखाता है किन्तु जीवनीकार अपने चरित्रनायक के शत्रु-मित्र के गुण-दुर्गुण में सन्तुलन कभी बिगड़ने नहीं देता। उसका चरित्र-नायक अपने व्यक्तित्व-बल से महान् बनता है, अपनी झूठी प्रशंसा और शत्रु की झूठी निन्दा से नहीं। चारण अपने आश्रयदाता के दोषों को सर्वथा छिपाने का प्रयत्न करेगा किन्तु जीवनीकार सत्य-पथ से कभी विचलित न होगा। यह हो सकता है कि दोष-दर्शन में उसके हृदय में सहृदयता की भावना ऐसी हो कि वह यथार्थता की रक्षा करता हुआ चरित्रनायक की दुर्बलताओं का परिहास न करे। जीवनीकार सत्य का पल्ला कभी नहीं छोड़ता। वह इस मर्यादा की रक्षा के लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। इस सम्बन्ध में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी लिखित कविवर सत्यनारायण की जीवनी का उल्लेख किया जा सकता है।

जीवनीकार का कर्तव्य समझाते हुए स्ट्रेची लिखते हैं कि "कोई अनावश्यक बात न आने पाये और न कोई आवश्यक बात छोड़ी जाय।"

जीवनी की शैली

हम पूर्व कह आए हैं कि चरित्र-लेखक को अपने नायक के काल्पनिक रूप की सृष्टि नहीं करनी होती, उसे तो केवल एक साँचा तैयार करना पड़ता है। यही साँचा शैली के नाम से पुकारा जा सकता है। जीवनी-लेखक के पास नायक के सम्बन्ध में लिखित, अलिखित अथवा विश्वस्त सूत्रों से उपलब्ध तथ्यों को

---

१. बाबू गुलाबराय

संकलित करके ऐसे कौशल से सजाना पड़ता है कि पाठक के मन में वे सीधे घर कर लें। हेरल्ड निकलसन के अनुसार "जीवनी लिखने के लिए एक विशेष प्रकार के बुद्धि-कौशल की अपेक्षा है।" शैली ही बुद्धि-कौशल की परिचायक होती है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि इस "चरित्रकार का मुख्य लक्ष्य अपने नायक के विषय में सत्य बातों का समाहार करना है, तो उसके लिए संचित सामग्री में से अपेक्षणीय तथ्यों का संश्लेषण, विश्लेषण, निर्वाचन तथा संस्थापन करना ही प्रधान कर्तव्य रह जाता है।"

किन्तु यह कार्य भी सहज नहीं। चरित्र-लेखक को नायक की घटनाओं के पुंज में से अपेक्षित तथ्य को ग्रहण करने और अनपेक्षित को त्यागने में ऐसी बुद्धिमत्ता से काम लेना पड़ता है कि सामंजस्य कहीं भी बिगड़ने न पाये और सर्वत्र एकसूत्रता भी बनी रहे। कार्लाइल का कथन है कि एक सफल चरित का लिखना इतना ही कठिन है जितना एक सफल जीवनी का अपने जीवन में निबाह ले जाना। कुछ विद्वानों का मत है कि चरित्र-लेखक का कार्य इससे भी अधिक दुश्कर है। प्रमाण के लिये यूरोप के प्रसिद्ध जीवन-चरित्रों को उठाकर देखिए, जॉनसन रचित 'लाइफ आफ सेवेज' के पश्चात् दो सौ वर्ष के अन्तर्गत अनेक सफल जीवन बिताने वाले असामान्य व्यक्ति उत्पन्न हो गए किन्तु सफल जीवनी के सम्बन्ध में लिखी हुई सफल जीवनियों की संख्या अत्यल्प है।

शैली का महत्व सबसे अधिक जीवनियों में स्पष्ट होकर निखरता है। शैली के ही बल से साधारण से साधारण चरित्रनायक की जीवनी भी आकर्षक बन जाती है। बाबू गुलाबराय के अनुसार जीवनी का सफल होना निम्नांकित गुणों पर निर्भर है: (१) चरित्रनायक इतना महान् हो कि श्री रामचन्द्र जी की भाँति उसका चरित्र ही काव्य हो। (२) लेखक की ऐसी महत्ता हो कि उसके पारस-स्पर्श और कलम के जादू से लोहा भी सोना हो जाय। सेमुअल जॉनसन ने बोसवैल का व्यक्तित्व इतना महान् प्रदर्शित किया है कि यह जीवनी आज तक अपना विशेष स्थान रखती है। डा० सूर्यकान्त का मत है कि "आज तक बोसवैल की रचना के काँटे पर संसार की दूसरी जीवनी नहीं उत्तर पाई।" उसने अपनी प्रतिभा के द्वारा चरित्र-रचना की एक ऐसी शैली आविष्कृत की जो आज तक आदर्श मानी जाती है। यही शैली पहली कोटि में आती है। दूसरे वर्ग में जॉनसन की लिखी हुई सेवेज की जीवनी की ओर संकेत किया गया है। पहली का चरित्रनायक महान् था, दूसरी का लेखक महान् था। एक तीसरा वर्ग है जिसका चरित्रनायक और लेखक दोनों महान् हैं जैसे गांधी जी की आत्मकथा, टैगोर और जवाहरलाल के आत्मचरित। यदि एक महान् आत्मा अपने जीवन

के क्रमिक विकास को अपनी ही लेखनी से प्रकट करे तो उसकी महत्ता का कहना ही क्या !* गांधी, टैगोर और जवाहर की आत्मकथा हमारे साहित्य की वह अक्षय निधि है संसार ने जिसका हृदय खोलकर स्वागत किया है।

हिन्दी में जीवन-चरित्र लिखने की परिपाटी अब चल पड़ी है। हमारे देश के निर्माता नेताओं की जीवनियों का उत्तरोत्तर प्रचार बढ़ता गया है। इनके अतिरिक्त साहित्यिकों, वैज्ञानिकों और समाज-सुधारकों के जीवन-चरित्र भी प्रकाशित हो रहे हैं। स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि महात्माओं की जीवनियों से समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठा है। हिन्दी में जीवन-चरित्र लिखने वाले यदि 'अपने चरित्र-नायक के अन्तर-बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग' से करें और 'इस चित्रण में अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखते हुए स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित्रनायक के गुण-दोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली से उद्‌घाटन' करें तो हमारा जीवन-चरित्र-सम्बन्धी साहित्य भी हमारे गौरव की वस्तु बन जाए।

जीवनियों के प्रकार

जीवनी और आत्मकथा में अन्तर स्पष्ट है। जीवनी का लेखक चरित्र-नायक का मित्र, शिष्य, प्रेमी, भक्त, उपासक या उद्देश्य से सहानुभूति रखने वाला कोई व्यक्ति होता है, किन्तु आत्मकथा चरित्र-नायक स्वतः लिखता है। आजकल जीवनियों की अनेक शैलियाँ मिलती हैं। 'मालवीय जी के साथ तीस दिन' में मालवीय जी के जीवन के तीस दिनों की ही घटनाएँ नहीं हैं प्रत्युत उनका जीवन-वृत्त तीस दिन में कहा मिलता है। महात्मा गान्धी की अनेक जीवनियां निकली हैं। सबने अपने दृष्टिकोण और अपनी शक्ति के अनुसार उस महापुरुष के जीवन का मूल्यांकन किया है। ऐसे जीवनी-लेखकों में घनश्यामदास बिड़ला, प्यारेलाल, महादेव भाई, सुशीला नैयर, श्रीमन्नारायण अग्रवाल के नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण के ढंग पर भी हिन्दी में जीवनी लिखने की प्रथा चल पड़ी है। एक और शैली 'इन्टरव्यू' की निकली है, जिसमें 'मैं उनसे मिला' इस शीर्षक से जीवन-चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है।

कलात्मक ढंग से लिखी हुई जीवनियों में पं० सीताराम चतुर्वेदी लिखित मालवीय जी की जीवनी एक विशेष स्थान रखती है। लाला लाजपतराय की जीवनी भी एक विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर गत वर्ष लिखी गई है। इसके लेखक लाला जी के निकट-सम्पर्क में रहने वाले अनुभवी व्यक्ति हैं।

आत्मकथाएँ

हम आत्मकथा की महत्ता पूर्व लिख चुके हैं । यहाँ इतना और कहना आवश्यक है कि इसकी भी विविध शैलियाँ हैं : महात्मा गान्धी की 'आत्मकथा', डा० श्यामसुन्दरदास की 'आत्मकहानी', सियारामशरण गुप्त के 'बाल्यस्मृति', 'झूठ-सच' आदि लेख, निराला जी की 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' की शैली, महादेवी जी के 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ', पं० रामनारायण मिश्र की 'यूरोप में छः मास' नामक यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक भी जीवनियों के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं ।

जीवनी-साहित्य का इतिहास

ईसा से पूर्व यूनान में 'प्लूटार्क' की जीवनियाँ लिखी गईं । तब से यूरोप में जीवनी-साहित्य का विकास होता चला आया है । आज दिन जीवनी लिखने की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं । हिन्दी में सर्वप्रथम 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'भक्तमाल' नामक दो ग्रन्थ मिलते हैं । संस्कृत में अश्वघोष का 'बुद्धचरित' और 'शंकर-दिग्विजय' नामक ग्रंथ भी जीवनी-साहित्य में परिगणित होते हैं । बनारसीदास जैन अकबर के समय विद्यमान थे । उन्होंने 'अर्द्ध कथानक' नामक एक ग्रंथ लिखा है जिसको उनकी आत्मकथा कह सकते हैं और जिसके द्वारा उस काल की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

हरिश्चन्द्र-युग में प्रतापनारायण मिश्र ने आत्मकथा लिखने का प्रयत्न किया किन्तु अनेक कारणों से ग्रंथ अधूरा ही रह गया । राधाचरण गोस्वामी के आत्मचरित से भारतेन्दु-युग की प्रवृत्ति का पता चलता है ।

आधुनिक काल में श्रद्धानन्द जी लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक', परमानन्द जी लिखित, 'आपबीती' वियोगीहरि का 'मेरा जीवन-प्रवाह,' जवाहरलाल की 'मेरी कहानी', राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्मकथा' आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं ।

आत्मसंस्मरण

आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की प्रायः आद्योपान्त कहानी लिखता है, किन्तु आत्मसंस्मरण में जीवन के एक खंड के संस्मरण लिखता है । आत्मसंस्मरण में जीवन को नई दिशा में मोड़ने वाली या औरों के सुनने वाली घटनाओं का उल्लेख किया जाता है ।

इस प्रकार का कार्य आत्मकथा से सरल है । आत्मकथा में अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अनेक व्यक्ति जीवित रहते हैं । उनके साथ सभी प्रकार का

प्रिय-अप्रिय व्यवहार समयानुकूल करना पड़ता है। अतः उन सबको बचाते हुए राग-द्वेष से पृथक् होकर अपनी जीवनी लिखना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है; किन्तु आत्मसंस्मरण में उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करना होता है जिनको आसानी के साथ सबके सामने रखा जा सकता है।

आत्मसंस्मरण-सम्बन्धी लेख प्रायः सभी लोग लिख सकते हैं। हिन्दी में इधर इसकी खूब चर्चा चली है। रवि बाबू और शरद बाबू की शैली पर प्रेमचन्द, आचार्य महावीर प्रसाद, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, वियोगी हरि, इन्द्र विद्यावाचस्पति, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, उदयशंकर भट्ट, रामवृक्ष बेनीपुरी प्रभृति अनेक लेखकों ने आत्मसंस्मरण लिखने का प्रयास किया है।

चौदहवाँ अध्याय

आलोचना का महत्व

समालोचना शास्त्र का आज कितना महत्व है, यह किसी साहित्यिक से छिपा नहीं। आज समालोचना और समालोचक के प्रति सबकी आँखें आदर से उभर उठती हैं क्योंकि समालोचना शास्त्र साहित्य-जगत् का नियन्ता और इसका शासक है। यह साहित्य को मर्यादित रखने की चेष्टा करता है। साहित्य में अनुशासन लाना इसका धर्म है। कवि की कलाकृति में समाज की आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। आलोचक निष्पक्ष दृष्टि से उस रचना को परखता है और उसका मूल्य निर्धारित करता है। प्रत्येक दृष्टि से परिपूर्ण साहित्य ही उच्च कोटि की श्रेणी प्राप्त करे, यही देखना आलोचक का अभीष्ट है।

समालोचना शब्द का अर्थ ही है— 'चारों ओर से भली प्रकार देखना' (सम+आ+लोचन्+आ)। समीक्षा शब्द का भी यही अभिप्राय है। (सम्+ईक्ष्+आ)। पहले तो साहित्य को देखना या परखना ही कोई साधारण कार्य नहीं; 'भली प्रकार देखना' तो और भी कठिन है; और 'चारों ओर से भली प्रकार देखना,' सचमुच प्रतिभावान् व्यक्तियों का ही कार्य है। इसीलिए पाश्चात्य साहित्य के विद्वान् प्रायः इस मत के पोषक हैं कि साहित्यिक समालोचना सबका क्षेत्र नहीं, केवल मस्तिष्क वाले व्यक्तियों का ही कार्य है।[1] बेन जॉनसन ने स्पष्ट कहा है कि "कवियों को केवल कवि ही समझ सकते हैं, और सब कवि भी नहीं केवल उत्कृष्ट ही।"[2]

कवि सर्जनकर्ता है, वह कुम्हार की तरह अपने पात्रों को रचता है। ब्रह्मा की तरह ही अपनी एक सृष्टि बनाता है। अंग्रेजी शब्द 'पोएट' (Poet) का भी यही अर्थ है। पोएट शब्द के मूल में धातु Poieo है जिसका अर्थ होता है—सृजन करना। अतः कवि या पोएट का अर्थ होता है—'स्रष्टा'। विधि की चित्र-विचित्र सृष्टि को अपने भावों और अनुभावों द्वारा कवि परखता है और उसके

---

1. Literary criticism is a play of cultured mind.
2. To judge of poets is only the faculty of poets, and not of all poets but the best. —Ben Jonson.

प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। गुलाबराय जी के शब्दों में कवि संसार से उत्पन्न अपनी भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया को प्रकाश में लाता है। इसके द्वारा वह जग और जीवन की व्याख्या करता है। अंग्रेज़ी के आचार्य कवि मैथ्यू आॅर्नोल्ड ने भी कहा है कि कविता जीवन की व्याख्या है।[1] अतः कवि जीवन के विवेचन के लिए विधि की सृष्टि के अनुरूप, कल्पना द्वारा अपनी एक सृष्टि बनाता है, इसीलिए उसे स्रष्टा कहते हैं।

विधि की सृष्टि को कवि परखता है, कवि की सृष्टि को आलोचक। कवि विधि-सृष्टि की व्याख्या करता है, आलोचक कवि-सृष्टि की। विधि की आनंदमयी सृष्टि को देख कवि प्रसन्न होता है, और भूरि-भूरि प्रशंसा करता है; तथा अप्रिय अंगों पर नाक-भौंह सिकोड़ता है और भला-बुरा कहता है। आलोचक भी कवि की प्रशंसा योग्य रचनाओं का बखान करते हुए अघाता नहीं, और आक्षेप योग्य अंशों पर अपनी अरुचिपूर्ण प्रतिक्रियाएँ व्यक्त किए बिना नहीं रहता। अतः विधि का निरीक्षक कवि है, कवि का निरीक्षक आलोचक।

परिभाषा

समालोचना का भी अंग्रेजी पर्याय क्रिटिसिज़्म (Criticism) भी इसी अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उस शब्द के मूल में धातु है क्रिटीज़ (Krites) जिसके कई अर्थ हैं—निर्णय करना, छिद्रान्वेषण करना, सौन्दर्य का मूल्यांकन करना आदि। अतः क्रिटिसिज़्म (समालोचना) वह माध्यम है जो ललित कला और विशेषकर साहित्य कला के सौन्दर्य और दोषों का निर्णय तथा उनका मूल्यांकन करता है। इस व्याख्या का अर्थ यह है कि समालोचक का कर्तव्य काव्य के गुण-दोषों का विवेचन और जीवन के प्रति इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन करना है। दूसरे शब्दों में समालोचना मौलिक कृति नहीं प्रत्युत् अनुकृतिमात्र है। कवि के आधार पर देखी हुई चीज़ को ही दिखाना, अनुभव किये हुए भाव-विचारों को अनुभव कराना है। परन्तु वास्तविकता इससे दूर है।

यह सत्य है कि समालोचना न्याय का विषय है, कल्पना का नहीं, इसमें तर्क की प्रधानता है, भाव की नहीं। इसमें मस्तिष्क-पक्ष का अधिक आलम्ब लिया जाता है, हृदय पक्ष का कम और इसके द्वारा सत्य का निरूपण किया जाता है, संभावना का नहीं। अतः समालोचना शास्त्र 'विज्ञान' की ओर अधिक झुकता है। तार्किकता और विश्लेषण को अपना अस्त्र बनाने के कारण यह कला से नाता तोड़ता हुआ, विज्ञान से सम्बन्ध जोड़ता मालूम पड़ता है।

---

1. Poetry is criticism of life.

फिर भी समालोचना का पूर्ण सम्बन्ध 'विज्ञान' से नहीं। समालोचना तो कलाक्रिया की उपक्रिया है। कवि भाव-प्रधान व्यक्ति होता है। अपने उद्देश्य में कभी-कभी उसे ध्यान नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है। प्रसादजी की कतिपय गूढ़ पंक्तियों का अर्थ जब एक मान्य विद्वान् द्वारा स्पष्ट न हुआ तो उन्होंने स्वयं प्रसादजी से ही उसका अर्थ पूछा। उस समय प्रसादजी को कहना पड़ा था, 'भाई मैं भावोद्वेग के समय में इन्हें लिख गया हूँ। अब मैं भी ठीक तरह नहीं बता सकता; अब यह कार्य आप लोगों का है।' इससे स्पष्ट होता है कि काव्य में अनेक गूढ़ स्थल होते हैं जिनका रहस्य साधारण पाठकों के वश की बात नहीं। उनकी अस्पष्टता से अध्ययन की गति में बाधा पड़ती है, रसानुभूति में विघ्न पड़ने लगता है और पाठक झुँझलाने लगता है, तभी समालोचना शास्त्र काव्य के रहस्यों को, उसकी गुत्थियों को सुलझाने का कार्य अपने हाथों लेता है। इसी दृष्टि से कि पाठक की रसानुभूति में बाधा न हो। देर की माथापच्ची के बाद भी जब अर्थ की गूढ़ता टस से मस नहीं होती, और सहसा पाठक की दृष्टि समालोचना की उन पंक्तियों पर जा पड़ती, जिनमें उनकी पोल खोल दी गई होती है, तो पाठक के हर्ष का ठिकाना नहीं रहता। वह अपने को कवि पर जयी, और आलोचक को अपना मित्र और गुरु मानने लगता है। अतः समालोचना का कर्तव्य पाठक की आनन्दानुभूति स्थिर रखना होता है। यदि कविता का अर्थ ही स्पष्ट न होगा, तो उससे वह शिक्षा कैसे ग्रहण करेगा। जॉन ड्राइडन के मत के अनुसार काव्य का गर्भ है 'प्रसादन' और 'प्रबोधन'; अतः काव्य को सुबोध बनाकर समालोचना शास्त्र 'प्रसादन' के साथ-साथ कला के दूसरे ध्येय 'प्रबोधन' को भी आत्मसात् कर लेता है।[1] अतः समालोचना 'कला' है।

यद्यपि समालोचना में मनन की प्रधानता होती है फिर भी काव्य का प्रतिपाद्य हृदय होता है। काव्य की गुत्थियों को सुलझाते हुए समालोचना द्वारा हृदय-पक्ष का कभी परित्याग नहीं होता। हृदय के साथ-साथ ही उसकी गति होती है। अतः समालोचना शास्त्र स्वरूप से 'विज्ञान' है, आत्मा से 'कला'। यह दोनों का मध्यम मार्ग है। तार्किक और विश्लेषणात्मक होने के नाते, यह विज्ञान का अंग बन जाता है, परन्तु आनन्द और ज्ञान में संयोजक होने के नाते, तथा हृदय-पक्ष को साथ-साथ रखने के कारण यह कला का अंश है। समालोचना 'विज्ञान' और 'कला' का अद्भुत समन्वय है। अतः विज्ञान के नाते आलोचक पारखी है, कला के नाते स्रष्टा।

---

1. The aim of all fine arts is to delight and in this way to 'instruct.'
—John Dryden.

समालोचक के गुण

A perfect judge will read each work of wit.
With the same spirit that is author writ.
—A. Pope (Essay on criticism)

ऐलेक्जैण्डर पोप ने आलोचक के अपेक्षित गुणों की चर्चा करते हुए एक महत्वपूर्ण पद्य-बन्ध प्रबन्ध 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' (Essay on criticism) लिखा है। अंग्रेजी साहित्य के लिए ही नहीं, वरन् समग्र देशों के समालोचना शास्त्र के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। यद्यपि समय-समय पर आलोचकों के गुणों की चर्चा होती रही है, पर इतने व्यवस्थित ढंग से और विस्तार के साथ किसी अन्य ने प्रयत्न नहीं किया। संक्षेप में उन गुणों को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

१ (क) **काव्य की आत्मा में प्रवेश** : आलोचक का सबसे प्रधान गुण कवि या काव्य की आत्मा में प्रवेश करने की उसकी क्षमता है। उपर्युक्त उद्धृत पंक्तियों का यही आशय है कि जिस भाव-भंगी, मुद्रा और तन्मयता के साथ कवि ने अपने काव्य की रचना की थी, उसमें प्रवेश कर जाने वाला पाठक ही उस कवि का सच्चा आलोचक हो सकता है।

२ (ख) **सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन** : इसके लिए आवश्यक है कि कवि के सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन किया जाए। काव्य के अंग-विशेष के अध्ययन पर ही आलोचक को अपनी धारणा नहीं बना लेनी चाहिए। कुछ बातें घटनाओं और पात्रों के प्रसंग में वह ऐसी भी कह सकता है जो उसे स्वयं मान्य नहीं। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वही उसका मत है। सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन न करने से कवि को परखने में त्रुटि हो सकती है।

३ (ग) **कवि के ध्येय की परख** : इसलिए कवि का क्या ध्येय है, इस पर पहले ही दृष्टि रखनी चाहिए। उसके लक्ष्य और मन्तव्य को पूरी तरह ग्रहण करने के बाद ही अपनी आलोचना अग्रसारित करनी चाहिए।

४ (घ) **शास्त्रीय आलोचना ही पूर्ण नहीं** : आलोचना के निर्धारित नियमों के अनुसार ही समीक्षा करना अपेक्षित नहीं। यह आलोचना पूर्ण आलोचना नहीं हो सकती। वास्तविक समीक्षा तो वह है, जो पाठक की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं (Reaction) को स्थान देती है।[1]

५ (ङ) **नूतनता ही कला की कसौटी नहीं** : लेकिन नवीन मत देना ही सच्ची आलोचना नहीं। किसी निश्चित मत का विरोध करके अपना नया मत देना ही

1. Judge independently, not by precedent.

अपेक्षित नहीं। उसमें तत्व होना चाहिए। वह तथ्य पर आधारित होना चाहिए। उसमें अपनी ही सच्ची अनुभूति की पृष्ठभूमि हो—यह आवश्यक है। इसीलिए कहा गया है कि नूतनता ही कला की कसौटी नहीं (Novelty is no test of true art.)।

६-(च) **दलगत भावना का त्याग** : आलोचना सदा कवि के कृतित्व को आधार मानकर होनी चाहिए, न कि केवल उसके व्यक्तित्व को। प्रायः देखने में आता है कि साहित्यिक वर्ग-विशेषों में बंट जाया करते हैं और वे कवि की कृति से प्रभावित होकर नहीं, वरन् दलगत भावनाओं से प्रेरित होकर आलोचना करते हैं। ऐसे आलोचक अश्लाघ्य ही नहीं, घृण्य भी हैं।

७ (छ) **अहम्मन्यता का निषेध** : सच्ची समीक्षा के लिए आलोचक में अहम्मन्यता का निषेध होना जरूरी है। इसीलिए पोप ने कहा है कि समीक्षा में अपने 'अहम्' को स्थान न दो।[1] अपनी इच्छाओं और भावनाओं को प्रदर्शित करने का प्रयास न किया जाय तो अच्छा। प्रायः आलोचना के समय विद्वान् अपने कार्या-कार्य (Do's & Dont's) को ध्यान में रखकर कवि की आलोचना करते हैं। इससे भ्रान्ति की आशंका हो सकती है। संसार में कार्याकार्य का मानदण्ड देश, काल, समाज और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न होता है। उसके कार्याकार्य सबके कार्याकार्य नहीं हो सकते। इसलिए अहम्मन्यता का निषेध आवश्यक है।

८ (ज) **भाषा ही मानदंड नहीं** : भाषा के लालित्य को ही समीक्षा का मानदण्ड नहीं मानना चाहिए। यद्यपि इस पर भी विचार आवश्यक है। उदात्त भाव अपने आप उत्कृष्ट भाषा बना लेते हैं। भाषा वही है जो भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सके। ललित और भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग ही अच्छी भाषा के लक्षण नहीं। अतः उनके लोभ में न आना चाहिए। यदि विचार स्पष्ट होंगे, तो भाषा अपने आप सुन्दर और ललित होगी। इस बात का समीक्षक को ध्यान रखना चाहिए कि विचारों की स्पष्टता पहले हो, भाषा का सौंदर्य बाद में।

९ (झ) **तार्किकता और संगति** : आलोचना में संगति (Consistency) का होना परम आवश्यक है। समीक्षक के मत में तार्किकता होनी चाहिए। उसे सदा ध्यान रखना चाहिए कि आदि से अंत तक उसके मत का खंडन हो रहा है अथवा नहीं। इसके साथ ही साथ उसे अत्युक्तिपूर्ण वचनों से बचना चाहिए। सर्वोत्तम, उच्चतम आदि अतिशयतापूर्ण शब्दों का यथासंभव निषेध करना

---

1. Avoid pride, eliminate malice and self-love.

चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समीक्षक में गहन अध्ययन हो, ज्ञान हो, न्याय हो और वह सदा 'सत्य' का ही पक्ष ले।[1]

समीक्षा की प्रणालियाँ

प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ओर लगभग समान प्रणालियाँ अपनाई गई हैं। चाहे उनका प्रयोग स्वायत्त हुआ हो अथवा अनुकरणवश, पर यह सत्य है कि हमारे यहाँ समालोचना की प्रचलित प्रणालियाँ यूरोप में प्रचलित प्रणालियों से कम नहीं यद्यपि उनका भण्डार अभी रिक्त-सा ही है। उन्हें निम्न कोटियों में विभक्त किया जा सकता है।

शास्त्रीय आलोचना (Academic Criticism) : इस प्रकार की आलोचना में शास्त्रीय नियमों के आधार पर काव्य के गुण-दोषों की छान-बीन की जाती है। काव्य के विविध उपकरण अलंकार, गुण, वृत्ति, रस आदि का विवेचन किया जाता है। अपने मतों के समर्थन में भूतपूर्व विद्वानों के मत का उद्धरण दिया जाता है। इसके द्वारा मूलतः शास्त्रानुमोदित नियमों का ही पालन किया जाता है। भारतीय साहित्य में आलोचना की शास्त्रीय प्रणाली अधिक प्रयोग में आती रही है। परन्तु धीरे-धीरे इसका स्थान आधुनिक वैज्ञानिक प्रणालियाँ ले रही हैं। फिर भी इसका अपना अस्तित्व है, अपना महत्व है। उदाहरण के लिए मतिराम का एक पद्य है। जिसकी आलोचना पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने शास्त्रीय ढंग से की है :

वसंत तरंगिनी में तीर ही तरल आय,
ग्रस्यो ग्राह पाँव खैंचि पानी बीच तरज्यो।
करनी कलम करैं कलपना कूल ठाड़े,
कहा भयो कहा, करुना के संग लरज्यो॥
कठिन समय विचारि साहब सों गयो हारि,
हठि पगध्यान रघुनाथ ज्यों ही सरज्यो।
असरन-सरन विरद की परज देख्यो,
पहले गरज भई, पीछें गज गरज्यो॥

आलोचना :

अलंकार : कुछ छन्द में मुख्य अलंकार चंचलातिशयोक्ति है।

---

1. It is not enough that a critic has judgment and learning. He should also have truth in him.

गुण : प्रसाद मुख्य गुण है। परन्तु कभी-कभी ओज गुण का भी आभास होता है।

वृत्ति : उपर्युक्त पद में मधुरा और परुषा वृत्ति का मिश्रण है। इस कारण यह प्रौढ़ा वृत्ति है। इसी का नाम सात्वती वृत्ति भी है।

रस : यह वीर रस का दया-वीर रस नामक रूपान्तर है।

व्याख्यात्मक आलोचना (Method of Appreciation) : इस पद्धति में आलोचक कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करता है। उसके भावों को सम्यक् समझने की कोशिश करता है। उसके बाद अपनी आलोचना में पाठकों को समझाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह पारखी ही नहीं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्रष्टा भी बन जाता है। तुलसीदास जी का काव्य-कौशल बतलाते हुए आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं :

"शील और शक्ति से अलग अकेले सौंदर्य का प्रभाव देखना हो तो वन जाते हुए राम-जानकी को देखने पर ग्राम-वधुओं की दशा देखिये।

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी-सी भौंहें।
तून, सरासन, बान धरे, तुलसी बन मारग में सुचि सोहैं॥
सादर बारहिंबार सुभाय, चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्राम वधू सिय सों "कहो साँवरे से, सखि, रावरे को हैं?"

"चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं" कैसा भावगर्भित वाक्य है। इसमें एक ओर तो राम के आचरण की पवित्रता और दूसरी ओर ग्राम-वनिताओं के प्रेम-भाव की पवित्रता दोनों एक साथ झलकती हैं। राम सीता की ओर देखते हैं, उन स्त्रियों की ओर नहीं। उन स्त्रियों की ओर ताकते तो वे कहतीं कि **'चितै हम त्यों हमरो मन मोहैं'**। उनके मोहित होने को हम कुछ-कुछ कृष्ण की चितवन पर गोपियों के मोहित होने के समान ही समझते हैं। अतः 'हम' के स्थान पर इस 'तुम' शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे 'असंगति' का ही चमत्कार देख संतोष कर ले, पर इसके भीतर जो पवित्र भाव-व्यंजना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है।"

तुलनात्मक आलोचना (Comparative Criticism) : इस प्रकार की आलोचना में दो या दो से अधिक कवियों की तुलना के द्वारा उनके काव्यगत गुणों व दोषों का विवेचन किया जाता है। कभी-कभी एक कवि की ही विभिन्न रचनाओं की तुलना की जाती है। कई कवियों की तुलना का उत्कृष्ट उदाहरण है। आचार्य शुक्लजी ने भक्त-प्रवर तुलसीदासजी का महत्व दिखलाते हुए लिखा है :

"केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिए रखना उनका अपमान करना है। केशव में हृदय का तो कहीं पता नहीं। यह प्रबन्ध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक का सम्बन्ध-निर्वाह होता है। उनकी रामचन्द्रिका फुटकर पद्यों का संग्रह-सी जान पड़ती है। बीरसिंहदेव-चरित्र में उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं, प्रबन्ध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। बिहारी रीतिग्रंथों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल-निकालकर दोहों के भीतर शृङ्गार रस के विभाव, अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेमस्रोतस्वरूप भक्तवर सूरदास जी। जब तक हिन्दी साहित्य और हिन्दी-भाषी हैं, तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने 'यमक' के लोभ से यह दोहा कह डाला कि 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास'। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारतीकंठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"

दो कवियों की तुलना करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं: "सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदास जी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होने वाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखने वाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुख-दशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोक-मर्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचाने वाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है।"

शुक्ल जी ने बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से इन कवियों को देखा है। कितनी स्पष्टता से वे उनके अन्तर को समझाते हैं, ध्यान देने योग्य है। अंग्रेजी साहित्य में तुलनात्मक समालोचना के अनुमोदक प्रो० सेन्टसबरी हैं। उनका मत है, "कवियों का तुलनात्मक अध्ययन ही उनकी सर्वोच्च आलोचना है।"[1]

ऐतिहासिक आलोचना : इस आलोचना द्वारा कवि की कृति के पीछे जुटे हुए

1. Comparative mode of criticism is the highest mode of judgment.

इतिहास की शोध की जाती है। यह पता लगाया जाता है कि जिस समय कवि अपनी रचना कर रहा था, उस समय समाज की कैसी व्यवस्था थी, स्वयं उस की परिस्थिति कैसी थी। प्रचलित मत के अनुसार कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है, ये आलोचक साहित्य द्वारा समाज के समकालीन इतिहास को ढूँढ़ते हुए कवि के मस्तिष्क पर उसका प्रभाव आँकते हैं। यूरोप में आलोचकों का एक वर्ग तो यहाँ तक मानता है कि साहित्य कतिपय सामाजिक शक्तियों और परिस्थितियों के संघर्ष का परिणाम मात्र है।[1] लेकिन यह मत अत्युक्तिपूर्ण है। यह सत्य है कि साहित्य समकालीन इतिहास से संयुक्त है। उसे जाने बिना साहित्य के मूल्यांकन में भ्रान्ति हो सकती है। फिर भी साहित्य समाजशास्त्र नहीं, साहित्य, इतिहास भी नहीं, इन दोनों से ऊपर की वस्तु है। १९वीं शताब्दी के मान्य अंग्रेजी आलोचक मैथ्यू आॅर्नोल्ड ने उपर्युक्त मत का खंडन करते हुए लिखा कि साहित्य उन विषयों को नहीं अपनाता जो अतीत हैं, वरन् उनको अपनाता है जो शाश्वत हैं।"[2]

अतः साहित्य का सम्बन्ध शाश्वत, सनातन विषयों से है। उसके विषय तो वही रहते हैं जो भूत में थे, वर्तमान में हैं, और भविष्य में होंगे। पर उन्हें कवि परखता है अपनी ही दृष्टि से, जो उसके युग से प्रभावित होती है। अतः वह समकालीन इतिहास से मुक्ति नहीं पा सकता, आविर्भूत भले न हो। इसलिए ऐतिहासिक समालोचना को सब देशों के साहित्यों में स्थान मिला है। मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' की ऐतिहासिकता प्रमाणित करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं :

"पहली बात तो यह है कि जायसी ने जो 'रत्नसेन' नाम दिया है, वह उनका कल्पित नहीं है, क्योंकि प्रायः उनके समसामयिक या थोड़े ही पीछे के ग्रंथ 'आइने-अकबरी' में भी यही नाम आया था। यह नाम अवश्य इतिहासज्ञों में प्रसिद्ध था। जायसी को इतिहास की जानकारी थी।...दूसरी बात यह है कि जायसी ने रत्नसेन का मुसलमानों के हाथ से मारा जाना न लिखकर जो देवपाल के साथ द्वंद्वयुद्ध में कुँभलनेरगढ़ के नीचे मारा जाना लिखा है, उसका आधार शायद विश्वासघाती के साथ बादशाह से मिलने जाने वाला वह प्रवाद हो, जिस का उल्लेख आइने-अकबरीकार ने किया है।"

---

1. Literature is nothing more than the result of certain social forces.

2. Literature is not concerned with the things as they have been, but with things as they are. —Matthew Arnold.

निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism) : इस प्रकार की आलोचना में कवि न्यायाधीश का कार्य करता है। वह निर्णय करता है कि साहित्य में किस कवि का क्या स्थान है। इसमें आलोचक अपने ही ऊपर पड़े हुए प्रभावों को आलोचना का आधार बनाता है। इसमें आलोचक मजिस्ट्रेट की भाँति न्याय-आसन पर बैठता है। कवि के गुणों के लिए उचित मान देता और दोषों के लिए उसकी निन्दा करता है। कभी-कभी वह बड़ा क्रूर हो जाता है और कड़ा दण्ड भी देता है। निर्णयात्मक आलोचना के लिए अंग्रेजी साहित्य में डॉ० जॉनसन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

डॉ० ग्रियर्सन ने बिहारी के विषय में लिखा है, "बिहारी को भारत का थाम्सन कहा जाता है किन्तु मेरी धारणा है कि न तो वह, न उनके भाई-बंधु किसी दूसरे भारतीय कवि की तुलना पश्चिम के किसी कवि से ठीक-ठीक की जा सकती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ यूरोप की किसी भी भाषा में बिहारी के जोड़ का कवि दूसरा नहीं।"[1] बिहारी के सम्बन्ध में एक आलोचक का मत है :

"जिस कवि की कविता तीन सौ वर्षों से लोगों को काव्यानन्द देती चली आ रही है, जिसकी वाग्धारा नाना प्रकार के विप्लवों के युग की अशान्त परिस्थिति को चीरती हुई अब भी ज्यों की त्यों रसिकों को स्नान कराने के लिए बह रही है, जिसकी कविता से बूड़ने वाले तो पार लग सके पर जो ऊपर ही हाथ-पैर फेंकते रहे, वे डूब गए, उस अमर कवि की वाणी साहित्य से रुचि रखने वालों को तब तक आनन्द देती रहेगी जब तक कि भारत रहेगा, हिन्दी का अस्तित्व रहेगा, ऐसा विश्वास है।" बिहारी का यश अजर और अमर है, उस रससिद्ध कवि की वाणी धन्य है :

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।

मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism) : इस आलोचना का सूत्रपात फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त (Psycho-analysis) के आधार पर हुआ है। फ्रॉयड ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सहारे यह मत प्रतिपादित

1. Bihari has been called the Thomson of India, but I do not think that either he or any of his brother poets of Hindustan can be usefully compared with any western poet. I know nothing like his verses in any European language.

—Dr. Grierson.

किया कि "साहित्य अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का साधन है।" उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण से देखा कि अपनी सहजात प्रवृत्ति से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष मिलना चाहते हैं। मनुष्य की इन समस्त प्रवृत्तियों में सुख-सम्भोग की प्रवृत्ति सबसे बढ़कर प्रचंड एवं उद्दाम होती है। किन्तु मनुष्य ने भोग के साथ संगम का महान् आदर्श ग्रहण किया है। उससे सदा उसकी सौन्दर्यानुभूति स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवर्तित हुई है। यह सौन्दर्यानुभूति जब उसके अन्तर के रस से सिक्त होकर आत्मप्रकाश के लिए आकुल हो उठती है, तभी साहित्य, शिल्प आदि ललित कलाओं की सृष्टि सम्भव होती है।

फ्रॉयड के अनुसार सौन्दर्य-बोध एवं उसकी रसपिपासा के मूल में उसकी भोगकामना अन्तर्निहित रहती है। उसमें उसकी दमित भोगकामना का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य परिलक्षित होता है। फ्रॉयड का अनुसरण करने वाला अब प्रत्येक देश में एक आलोचक दल प्रस्तुत हो गया है। ऐतिहासिक समीक्षा में तो कवि पर ऐतिहासिक परिस्थिति का प्रभाव ढूँढ़ा जाता है पर मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कवि के वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आन्तरिक और निजी जीवन की अनुभूतियों में उसकी कृति का मूल ढूँढ़ा जाता है। यूरोप में इस प्रणाली का काफी प्रचार और प्रसार हो चुका है। हिन्दी साहित्य में इसका अनुशीलन प्रारम्भ हो गया है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का मनोवैज्ञानिक समीक्षा सम्बन्धी यह एक उत्तम उदाहरण है:

"व्यक्तिमुखी पात्र लेखक की निजी मनोवैज्ञानिक आसक्तियों के परिणाम होते हैं। आज के मनोविश्लेषक उपन्यासकार वस्तुमुखी दृष्टि का उपयोग करते हैं। इससे एक लाभ यह होता है कि पात्रों का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख आ जाता है।......जैनेन्द्र के पात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मौन, निष्क्रिय और कुण्ठा-ग्रस्त होते हैं, यद्यपि ऐसे पात्रों को उन्होंने आदर्शवादी चरित्र की रूपरेखा देने का प्रयास किया है। ये पात्र अपनी पत्नियों को प्रत्येक दशा में पूरी छूट देते हैं और इस प्रणाली द्वारा उनके हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा करते हैं।...... मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक स्तर पर इन पात्रों में एक प्रकार की अन्तर्निहित कुण्ठा भी रहा करती है, जो उन्हें सामाजिक भूमि पर एकदम निष्क्रिय बना देती है। पत्नी को प्रभावित करना तो दूर, ये पात्र अनेक अवसरों पर पत्नी की कठपुतली-से बन जाते हैं।"

सैद्धान्तिक समीक्षा (Theoretical Criticism) :-समालोचना की यह प्रणाली समीक्षा के सिद्धान्त बनाने से सम्बन्ध रखती है। इसके अन्तर्गत आलोचक अपनी बुद्धि, मनीषा और प्रतिभा के आधार पर समीक्षा करने के

लिए सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। यहाँ पर आलोचक मूल रूप में विचारक होता है। उसमें चिन्तन की प्रधानता होती है। इसीलिए समालोचना को साहित्य-शास्त्र का दर्शन (Philosophy) तथा इसके तत्व-विचारक को साहित्यिक दार्शनिक (Literary philosopher) कहा जाता है। संस्कृत और ग्रीक साहित्य में साहित्यिक दार्शनिकों की प्रचुरता रही है। पर हिन्दी साहित्य में इस की बड़ी कमी है। दान्ते, प्लेटो, एरिस्टॉट्ल, लॉन्जिनस, होरेस, क्विन्टिलियन आदि प्राचीन साहित्यिक दार्शनिक हो चुके हैं। उन्होंने अपनी-अपनी प्रतिभा से सैद्धान्तिक समीक्षा का निर्माण किया है।

संस्कृत साहित्य में भी ऐसे विचारकों का अभाव नहीं रहा। श्री भरतमुनि पहले साहित्यिक दार्शनिक कहे जा सकते हैं, उनके पश्चात् इन दार्शनिकों की एक लम्बी शृङ्खला है। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, वाग्भट, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि उनमें प्रमुख हैं।

अंग्रेजी साहित्य में सैद्धान्तिक समीक्षा का विकास देर में हुआ है। कोलरिज (Coleridge) और रिचॉर्ड्स प्रख्यात सैद्धान्तिक समीक्षक हैं। श्री रिचॉर्ड्स का 'प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' बहुत ही मान्य ग्रन्थ है। हिन्दी-साहित्य में भी इस प्रकार के ग्रन्थ १७वीं शताब्दी से ही उपलब्ध बताए जाते हैं, पर वे सब संस्कृत साहित्य के अनुकरण मात्र हैं। आचार्य केशवदासजी की 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' को हम समीक्षा-सिद्धान्त में प्रथम प्रयास मान सकते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' और आचार्य पण्डित राम-चन्द्र शुक्ल जी की 'रस-मीमांसा' इस दिशा में स्तुत्य कृतियाँ हैं। पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' भी प्रशंसनीय है।

प्रगतिवादी समीक्षा

आजकल एक प्रकार की नयी समीक्षा-प्रणाली चल पड़ी है जिसे प्रगति-वादी समीक्षा (Communistic Criticism) कह सकते हैं। इस समालोचना का आधार समाजवादी यथार्थवाद (Socialistic realism) है। रूस में इस समीक्षा-पद्धति का जन्म हुआ है। मैक्सिम गोर्की इसके आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। रूस में यह प्रणाली खूब प्रचलित है। उसी से प्रभावित होकर हिन्दी के आलोचक भी इसे अपनाने लगे हैं। श्री शिवदानसिंह, डॉक्टर रामविलास [illegible], अज्ञेय, भगवतशरण उपाध्याय प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन अलग-अलग प्रणालियों का तात्पर्य यह नहीं कि वे अपने ही में पूर्ण हैं और अकेले ही उत्कृष्ट समीक्षा का विधान कर सकती हैं। उत्तम समालोचना

के लिए यथास्थान अधिक से अधिक प्रणालियों का समन्वय होना चाहिए। प्रत्येक प्रणाली अपनी-अपनी दृष्टि से काव्य का विवेचन करती है। अतः जितनी अधिक प्रणालियाँ काव्य में लागू हो सकें उतना ही अच्छा, क्योंकि इससे अधिकाधिक काव्य का रहस्य खुल सकेगा। अतः समन्वित समीक्षा ही वरणीय है। उत्कृष्ट आलोचना व्याख्यात्मक, शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक आदि मान्य प्रणालियों की समन्विति करने वाली ही हो सकती है, जिससे उसमें साहित्य के भाव-पक्ष, कला-पक्ष, और लोक-पक्ष तीनों समाहित हो जाएँ।

हर्ष की बात है कि ऐसी समीक्षाएँ हिन्दी साहित्य में उपलब्ध होने लगी हैं। समन्विति होते हुए भी समीक्षा में आलोचक का विशेष ध्येय मुखर हो ही उठता है। शांतिप्रिय द्विवेदी जी की समालोचना में समन्विति होते हुए भी उसमें भावुकता का पुट अधिक रहता है। डा० नगेन्द्र और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा में विश्लेषण और बौद्धिकता का प्राधान्य रहता है। शास्त्रीयता को महत्व देने वाले तथा भावपक्ष और लोकपक्ष का सामंजस्य करने वालों में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डाक्टर रामकुमार वर्मा, डाक्टर जगन्नाथप्रसाद मिश्र मुख्य हैं। आधुनिक आलोचना में विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। डा० नगेन्द्र और पं० इलाचन्द्र जोशी ने इस पद्धति को सफलतापूर्वक अपनाया है। इस दृष्टि से डा० नगेन्द्र के दो मान्य ग्रन्थ 'विचार और विश्लेषण' तथा 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' सराहनीय हैं।

◇ ◇ ◇